जैन जातिमें निकलता हुआ प्रथम व एकही
आगेवान साप्ताहिक पत्र।

"हिन्दी जैन."

भारतवर्षकी सरकारी मनुष्य गणनानुसार श्वेताम्बर जैनोंकी वस्ती कमसे कम सात लाख होनी चाहिये जिसमें अर्धउपरान्त हिस्सा हिन्दी जाननेवालोंका है। उसमें केवल यह एकही साप्ताहिक पत्र है। यह जैनोंके श्रेयके लिये औद्योगिक, धार्मिक सांसारिक साहित्य विषयादिकी उन्नतिके वास्ते हरेक गुरुवारको प्रगट होता है।

"हिन्दी जैन"

खरीदनेसे दुर्लभ्य मुनिवाणी, देश विदेशकी खबरें, व्यापार समाचार, सामाजिक व धार्मिक विचार, कॉन्फरन्स समाचार इत्यादि हित व श्रेयकी बातोंका लाभ, घर बैठे बिठाये हरेक गुरुवारको मिलते रहते हैं अलावा इसके

धर्म रक्षण

संबंधी तथा तत्वसंबंधी उत्तम लेख इसमें आया करते है। इतना होते भी वार्षिक मूल्य केवल डाक खर्चके सहित रु. २) रखा है। सर्व प्रकारका पत्र व्यवहार नीचेके पतेसे कीजिये।

मेनेजर—"हिन्दी जैन"
कालबा देवी, बम्बई नं० २.

नोट—प्रति वर्ष ९ उत्तम पुस्तक उपहारमें दीजावेगी।

सरल-गीता

ग्रन्थ प्रकाशक समिति

ग्रन्थ-प्रकाशक समिति पु. सं. १.

सरल गीता।

(श्रीमद्भगवद्गीताका सरल हिन्दी अनुवाद)

How can a man learn to know himself? Never by meditating but by doing. Endeavour to do thy duty, and thou wilt at once know what in thee lies. *Goethe.*

लेखक—लक्ष्मण नारायण गर्दे।

प्रकाशक—

ग्रन्थ-प्रकाशक समिति,

ब्रिवीहटिया, काशी। BENARES CITY.

प्रथम संस्करण) सन् १९१२ ई० (मूल्य १२ आने।

Published by Ganpati Krishna Gurjar,
Secretary, G. P. Samiti, Bibi Hatia, Benares City.

Printed by B. L. Pawagi at
The Hitchintak Press, Ramghat, Benares City.

प्रस्तावना।

श्रीमद्भगवद्गीताका सरल हिन्दी अनुवाद आज आप लोगों-की सेवामें बड़े प्रेमसे उपस्थित करते है। इसे पढ़ने और इसपर विचार करनेका आपको कष्ट देनेका एक विशेष कारण है और वह आपकी और हमारी दुरवस्था है। हम लोग यदि अपने देशकी दशापर विचार न करेंगे तो और कौन करेगा ?

हम हिन्दू लोग इस समय कितने गिरे हुए हैं इसका विचार करनेसे छाती फटने लगती है। संसारके सभी देश अपनी ऐहिक उन्नति कर विज्ञानका विचार कर रहे हैं और हम अभी खानेपीनेकी उलझनसे ही फुरसत नहीं पाते, विज्ञानका क्या खाक विचार करेंगे !

इस समय अपनी उन्नतिका मार्ग स्पष्ट नहीं दिखायी देता। कोई कहता है मुसलमानोंको शुद्ध कर लो और अपनी संख्या बढ़ाओ और धर्मका प्रचार करो। कोई कहता है वर्णाश्रम धर्मकी स्थापना करो और कोई कहता है जन्मसिद्ध ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके सामने शिर नवाओ। कोई कहता है खेतीकी उन्नति करो और कोई कहता है खेती छोड़ो—उसमें सिवा हानिके और कुछ न होगा; और व्यवसाय-वाणिज्य करो; इ०। इस समय आज हजारों वर्षोंसे जिस भगवद्गीताको हम मानते आये हैं उसकी भी सम्मति ले लेना हमारा कर्तव्य है।

हमें अपनी उन्नतिका मार्ग साफ करना है। इस लिये इस समय हमारा आदर्श स्थिर हो जाना चाहिये। आदर्श यदि सामने न रहे तो भटकनेकी संभावना है। भारतवर्षमें प्रधानतः दो प्रकारके विद्वान् हैं: एक वे लोग जो संस्कृतका ही अध्ययन करते है और नवीन आवश्यकताओंको नहीं समझना

चाहते; और दूसरे वे लोग हैं जो प्राचीन विचारोंको एकदम तलाक देकर नये सिरेसे—पाश्चात्य पद्धतिसे अपनी उन्नति चाहते हैं। एकके विचारसे पारमार्थिक उन्नति ही उन्नति है और दूसरेके विचारसे पारमार्थिक उन्नति अथवा प्राचीन सद्ग्रन्थोंके आदर्शका विचार छोड़ कर सांपत्तिक उन्नति करना ही पुरुषार्थ है। परन्तु पहिले विचारके लोग देशकालका विचार न करनेके कारण अपने अध्ययनका उपयोग नहीं कर सकते। और दूसरे बिचारके लोग भारतवर्षमें वैसी ही अवस्था उत्पन्न करना चाहते है जैसी इस समय पाश्चात्य देशवासियों-की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी अवस्था हमारी वर्तमान अवस्थासे वहुत ही अच्छी है। परन्तु उसमें एक दोष है—वह यह है कि उससे संसारमें समता, स्वतंत्रता और एकता नहीं फैलती! जो देश चाहता है वह अच्छे बुरे मार्गसे अपनी उन्नति करता है। परन्तु हिन्दुओंका यह आदर्श नहीं है कि दूसरों-का माल हड़प कर स्वय धनवान् हों। जिस उन्नतिमें ब्रह्म-विचार नहीं वह उन्नति नहीं, मृगजल है—वह निरी माया है। सच्ची उन्नति वह है जिससे हृदय संतुष्ट हो, शरीर बलवान् हो, अपना धन कोई न लूटने पावे और दूसरा भी शान्ति और सुखके साथ जीवन निर्वाह करे। परन्तु इस विचारका इतना अतिरेक कदापि न होना चाहिये जितना भारतवर्षमें हुआ। समयका विचार करके ही उन्नतिका यत्न करना चाहिये।

सांसारिक समता और एकताका आदर्श हमारे सामने वैदिक कालसे है। गीताका भी यही आदर्श है। परन्तु इस आदर्शपर विचार ही हम लोग करते रहे और आलसी बनकर हमने सर्वस्व खो दिया। उक्त उच्च आदर्श सामने रख कर हमें इस समय अपने अधिकारोंको समझ कर जीवन सुखी

बनानेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये। गीता यह नहीं सिखलाती कि जंगलमें जाकर तपस्या करते रहो। गीता सिखलाती है कि परमात्माकी अधीनता स्वीकार करो। सब प्रकारके भयसे स्वतंत्र हो जाओ। ऐहिक उन्नति ही, पारमार्थिक उन्नतिका मूल है। ऐहिक उन्नति क्या है? तेजस्वी और बलवान् शरीर, धन और अधिकार। जिसे अपनी संपत्तिपर अधिकार नहीं वह क्या कभी निरोगी और धनी बन सकता है? जिसका शरीर अपने काबूमें नहीं वह क्या पारमार्थिक उन्नति करेगा? इस लिये ऐहिक उन्नति ही प्रधान है। परन्तु ऐहिक उन्नति करते करते विलास और भोगमें बह जानेका डर रहता है। इसलिये परमात्माका विचार करते हुए इस उन्नतिका यत्न करना चाहिये।

गीताकारने उन कर्तव्योंपर बड़ा जोर दिया है जो हिन्दुओंके नित्य करनेके कर्तव्य हैं। इनका नित्य पालन करनेसे आत्म-विचार और संसारसे अपना संबंध ध्यानमें रहता है। इन कर्तव्योंको नित्य निर्वाह कर बल, तेज, आरोग्य और मानसिक उन्नतिका यत्न करनेसे मनुष्य कृतकार्य होता है। ऐसे मनुष्य जिस देशमें फैल जायगे वह संसारके लिये आदर्श होगा। यह तो हुआ व्यक्तिगत कर्तव्य, परन्तु इतने ही महत्वका सामाजिक कर्तव्य भी है। जैसा समाज होगा वैसा ही उसका एक एक व्यक्ति होगा। इसलिये समाजकी उन्नति अवनतिका विचार कर समाजकी उन्नतिका उपाय करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। इस कर्तव्यका पालन करनेसे ही मनुष्यकी बुद्धि विशाल और हृदय उदार होता है; और ब्रह्मसाक्षात्कारका यही मार्ग है।

इस प्रकार गीतामे ऐहिक और पारमार्थिक उन्नतिका एक ही साथ मार्ग बतला दिया गया है। जो लोग इससे लाभ उठावेंगे वे अपनी व्यक्तिगत उन्नति कर समाजके उद्धार कार्यमें

हाथ बटावेंगे।

इस समय देशकी और खास अपनी जो आवश्यकताए हैं उन्हें पूर्ण करना ही हमारा कर्तव्य है। किस प्रकारसे यह कर्तव्य सिद्ध होगा इसका विस्तारपूर्वक विचार गीतामें किया गया है।

सरल गीता लिखनेमें गूढ़ विषयोंको सरल पद्धतिसे समझानेकी यथाशक्ति चेष्टा की गयी है इसलिये इसका नाम सरल गीता, उचित ही जान पड़ता है। इसके आगेके पृष्ठोंमें आप अनुवाद पढ़ियेगा तो आप ही मालूम हो जायगा कि कहांतक उद्देश्य सफल हुआ है। गीतारंभ करनेसे पहिले युद्धका पूर्व वृत्तान्त भी जोड़ दिया है जिसमें महाभारतसे गीताका संबंध प्रकट हो। अन्तमें गीताके सिद्धान्तोंका लेखरूपसे संक्षेपमें विवेचन किया है जिसमें एक बारके अनुवाद पाठसे जो बातें समझमें नहीं आतीं वे साधारण पाठकोंको भली भांति समझमें आ जायं।

श्रीमद्भगवद्गीताको हम भारतवासी अपना धार्मिक ग्रन्थ मानते है। हजारों लोग उसका नित्य पाठ करते है। ऐसे ग्रन्थके विषयमें लोगोंको जितनी अधिक बातें मालूम होंगी उतना ही अधिक कल्याण होगा। इस दृष्टिसे यह यत्न किया गया है–उसका फल हम अपने उन्हीं देशबंधुओंको समर्पित करते हैं जिनका और हमारा स्वार्थ एक ही है।

काशी, ता० २० दिसम्बर १९१२.

विनीत–
लक्ष्मण नारायण गर्दे।

पूर्व वृतान्त।

द्वापरमें भरतवंशका शन्तनु नामक एक राजा हस्तिनापुरमें राज्य करता था। इसने अत्यंत रूपवती गंगा नाम्नी स्वर्गांगनासे विवाह कर आठ पुत्र उत्पन्न किये। परंतु संसारका विस्तृत कर्मक्षेत्र एक ही पुत्रने देखा जिसका नाम भीष्म था। शन्तनु और गंगामें किसी कारण कुछ अनवन हो गयी और गंगा शन्तनुसे दूर जा रही। इस समय विरह-व्यथासे शन्तनुका हृदय फट रहा था। एक दिन घूमते घूमते राजाने सत्यवती नाम्नी एक सुन्दर बालिकाको देख पाया। तबसे जिस मनरूपी मन्दिरमें गंगाकी पूजा होती थी उसीमें सत्यवतीकी आराधना होने लगी। शन्तनु सत्यवतीसे विवाह करनेके लिये वहुत अधीर हो उठा। पर विवाहके मार्गमें बाधा डालने वाली कई बातें थीं। सत्यवतीके पिताका कहना था कि अगर आप यह वादा करें कि सत्यवतीसे जो पुत्र उत्पन्न होगा वही मेरे पश्चात् राज्यका मालिक होगा तो मैं सत्यवती-को आपसे व्याह देनेके लिये तैयार हूं। यही बड़ी भारी अड़-चन थी। शन्तनु अपने प्यारे पुत्र भीष्मको प्राणसे भी बढ़ कर प्यार करता था—उसका राजपाट छीन कर दूसरे पुत्रको देने-की प्रतिज्ञा उससे न हुई। पर सत्यवतीके प्रति जो प्रेमकी धारा बह निकली थी वह भी उसके हटाये नहीं हट सकती थी। ऐसी विचित्र दशामें शन्तनु गोते खाने लगा! कानों कानों यह बात भीष्मजीके कानोंतक पहुंची। उन्होंने पिताको कहला भेजाः—“आप निस्सकोच होकर विवाह करें। मैंने राजपाट त्याग दिया। मैं आजन्म ब्रह्मचारी बना रहूंगा।” पुत्रका नि-ष्कपट भाव पाकर राजाने सत्यवतीसे विवाह किया। सत्यव-

तीसे शन्तनुको दो पुत्र हुएः-चित्रांगद और विचित्रवीर्य। इनकी अल्प वयस्में ही शन्तनुकी मृत्यु हो गयी। गद्दीके वारिस छोटे थे इसलिये भीष्मजीने राज्य संभाल लिया। पर इतनेमें ये दोनों भाई भी परलोक सिधारे। विचित्रवीर्यकी दो स्त्रियां थीं जिनसे धृतराष्ट्र और पंडु दो पुत्र हुए।

इनमें धृतराष्ट्र ज्येष्ठ थे, परन्तु अन्धे होनेके कारण पंडु राज गद्दीपर बैठे। पंडुने भीष्मजीकी सम्मति से राज्य किया। इनकी दो स्त्रियां थीं। दोनोंको लेकर ये एकबार तप करनेके निमित्त वनको गये। वहां कुन्तिसे धर्म, भीम और अर्जुन, तथा माद्रीसे नकुल और सहदेवका जन्म हुआ। वनमें रहते हुए ही पंडुकी मृत्यु हुई और पतिरता माद्री पतिकी चितापर सती गयी। कुन्ति अपने पांचों बेटोंको हस्तिनापुर ले आयी और रहने लगी। इन्हीं पांचों पंडु पुत्रोंको पांडव कहते हैं। धृतराष्ट्रके दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण आदि सौ लड़के हुए और एक लड़की। इन्हींका साधारण नाम कौरव है।

भीष्मजीने कौरवपांडवोंको उस समयकी पूर्ण शिक्षा दिलानेमें कोई बात उठा न रखी। इनके प्रथम गुरु कृपाचार्य हुए, पर फिर युद्धविद्याविशारद गुरु द्रोणाचार्यने इन्हें युद्धविद्यामें निपुण किया।

परंतु बुद्धिमत्तामें पांडव कौरवोंसे श्रेष्ठ थे। उनमें ग्राहक-शक्ति अधिक थी। विशेषकरके भीम और अर्जुनकी विद्या-प्राप्ति विषयक उत्सुकता और उनकी कुशाग्र बुद्धिपर गुरु द्रोण प्रसन्न हुए और उन्होंने भीम और अर्जुनको धनुर्वेदकी मानों कुंजी दे दी। इससे कौरवोंका मन जल उठा—वे मन ही मन कुढ़ने लगे और पांडवोंसे डाह करने लगे। पांडव अपने सुस्व-भावके कारण सबके प्रीतिपात्र हो चले यह देख कौरवोंमें

डाहकी आग और भी भभक उठी। डाह मनुष्यका बड़ा भारी शत्रु है। डाह करने वाला मनुष्य अंधा हो जाता है और दूसरेके नाशकी चिन्ता किया करता है। कौरवोंके मनमें अब यह भय उत्पन्न हुआ कि पांडव ही अधिक पुरुषार्थी होनेके कारण राज्यके मालिक बनेंगे—कमसे कम उन्हें आधा हिस्सा देना पड़ेगा। इस प्रकार दुर्योधनादि कौरवोंके दिन पांडवोंके नाशकी चिन्तामें ही बीतने लगे। उन्हें एक आत्मघाती सलाहकार भी मिला जिसने कौरवोंको और भी भड़काया और कौरवपांडवके सर्वनाशका बीज बो दिया।

भीमको विष पिलाया गया। पांडवोंके मकानको आग लगा दी गयी। भीमको जलसमाधि देनेकी चेष्टा की गयी। पांडवोंने अपने पुरुषार्थसे अपने लिये ऐश्वर्य प्राप्त किया जिससे कौरव और भी जलने लगे। उन्होंने धर्मराजको जुवा खेलनेके लिये बुलाया और पांडवोंकी संपत्ति इस प्रकार हरण कर ली। इतना ही नहीं; सती द्रौपदीकी इज्जत बिगाड़नेपर उतारू हुए और अन्तमें पांडवोंको वनवासके लिये भेज दिया! फिर भी पांडव अपने धर्मसे च्युत नहीं हुए बल्कि जब कभी काम पड़ा कौरवोंकी सहायता की। उनका यह सिद्धान्त था कि हम और कौरव आपसमें चाहे लड़ मरें पर बाहरी शत्रुके लिये हम दोनों एक है। आपसमें लड़नेके लिये पांडव पांच और कौरव एक सौ हैं; पर विदेशी शत्रुका निःपात करनेके लिये हम एक सौ पांच हैं। परंतु साधु पुरुषोंके जीवनमार्गमें कांटे छितरे हुए हैं। जिन पांडवोंमें कौरवोंकी और देशकी उन्नति करनेकी योग्यता थी उन्हें अज्ञातवासके भी कष्ट झेलने पड़े!

प्राण जाय तो जाय पर धर्मकी रक्षा करना पांडवोंका सिद्धान्त था। उस सिद्धान्तके अनुसार लाख दुःखोंको सहकर

भी पांडवोंने संसारके सामने कष्टमय परन्तु पुरुषार्थपूर्ण ज्वलन्त जीवनका दृष्टान्त खड़ा कर दिया। और अन्तमें जब उन्होंने कौरवोंसे राज्यका आधा हिस्सा, कमसे कम उस पितृ भूमिके पांच ग्राम मांगे तब कौरवोंने यही उत्तर दिया कि बिना युद्ध किये सुईके नोक बराबर भी भूमि न देंगे। साम दामादि सब उपाय किये गये! श्रीकृष्णने मध्यास्थिता की! परंतु 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' के न्यायसे कौरवोंने किसीका कहा न माना। निदान शान्तिप्रिय धर्मराजने भी युद्ध करनेके लिये सम्मति दी। दोनों पक्ष युद्धके लिये तैयार हुए।

न्याय-अन्याय कौन देखता है! बलीके सभी सहायक होते निर्बलोंका एक ईश्वर ही सहायक है। अन्यायी सत्ताधारीका प्रभाव लोगोंपर जितना पड़ता है उतना न्यायी निर्बलोंका नहीं। परंतु न्यायकी ही अन्तमें विजय होती है इसलिये डरको दूर कर न्यायाका साथ देना ही कर्तव्य है। ऐसा कर्तव्य समझनेवाले उतने लोग नहीं होते जितने अधर्मी, अन्यायी, अत्याचारीके पक्षमें हो जाते हैं। इसी लिये कौरवोंकी ओरसे लड़नेके लिये ग्यारह अक्षौहिणी सेना था; और पांडवोंका साथ देनेवाली सात अक्षौहिणी। कुल १८ अक्षौहिणी सेना आपसमें मरनेकटनेके लिये उस पहिले कुरुक्षेत्रके युद्धमें एकत्र हुई थी।

---

१ एक अक्षौहिणी में २१८७० हाथी, ६५६१० तीरदाज और १०९३०५ पदाति होते हैं।

२ कुरुक्षेत्र यमुना और सरस्वती इन दो नदियोंके बीचमें है। आर्य लोग यहां अति प्राचीन कालसे रहते आये हैं। हिन्दुस्थानका राजकीय भाग्य निश्चित करनेवाली यहां तीन लड़ाइयां हुई। पहिली लड़ाई कौरव पांडवोंकी, दूसरी-अकबर हीमूकी और तीसरी पठान-मराठोंकी हुई। तीनों लड़ाइयोंने हिन्दुस्थानके मानचित्रका रंग एकबारगी बदल डाला है।

सरल गीता ।

॥ श्रीः ॥

सरल गीता

पहिला अध्याय ।

(१) धृतराष्ट्रने संजयसे पूछाः-हे संजय! मेरे पुत्रोंने और पांडवोंने धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे इकट्ठे होकर क्या किया?

(२) संजयने कहाः-दुर्योधनने पांडवोंकी सुसज्जित सेना को देखा और गुरु द्रोणाचार्यके पास जा कर कहाः—

(३) गुरुजी महाराज! आपके बुद्धिमान शिष्य धृष्टद्युम्न-ने पांडवोंकी इस महती सेनाकी मोर्चेबन्दी की है; इसे देखिये।

(४-६) इस सेनामें महाबली, महाधनुर्द्धर, युद्धमें भीम और अर्जुनसे टक्कर लेनेवाले सात्यकि, विराट, महारथी द्रुपद, धृष्टकेतु चेकितान, वीर्यवान् काशीराज, पुरुजित, कुन्तिका पिता कुन्तिभोज, नरश्रेष्ठ शैव्य, पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदीके पांचों बेटे, ये सभी महारथी* यहां उपस्थित हैं।

(७) और अब, हे ब्राह्मणवर! हम लोगोंके भी सेनापतियों और शूरसरदारोंका हाल सुनिये। मैं उनके नाम भी आपको सुनाये देता हूं।

(८) सबसे पहिले तो आपही हैं; फिर भीष्म, कर्ण, रण-जीत कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा ये सब बड़े लड़ाके वीर हैं।

(९) और भी नाना प्रकारके शस्त्र चलानेमें निपुण और

---

* दशहजार शूर पुरुषोंसे अकेले युद्ध करनेवाले को महारथी कहते हैं।

युद्धमें कुशल बहुतसे शूर वीर मेरे लिये प्राणतक दे देनेको तैयार है।

(१०) और ऐसी सेनाकी रक्षा स्वयं भीष्म पितामह कर रहे हैं, फिर इसका बल क्यों न अपरिमित हो। उधर पांडवोंकी सेना इसके मुकाबले थोड़ीसी है पर उसकी रक्षा भीमसेन कर रहा है।

(११) अब आप सब लोग अपने अपने स्थानोंपर डटकर भीष्मजीकी रक्षा करें।

(१२) इतनेहीमें वृद्ध भीष्म पितामहने दुर्योधनका हर्ष और आनन्द बढ़ानेके लिये सिंहकी तरह गरज कर बड़े जोरसे शंख बजाया।

(१४) बस फिर क्या था, सारी सेनामें धूम मच गयी। सब लोग अपने अपने शंख बजाने लगे। किसीकी भेरी, किसी का पणव, किसीका अनक और किसीका सींग बजने लगा। यहांतक कि आकाशमें वह शब्द गूंज उठा।

(१४) तब सफेद घोड़ोंके रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने, अपने अपने दिव्य शंख बजाये।

(१५) श्रीकृष्णका पांचजन्य[१], अर्जुनका देवदत्त, वैसेही बड़े पेटवाले भीमसेनका बड़ा भारी पौंड़ शंख बजने लगा।

(१६) कुन्तिके पुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष और सहदेवने मणिपुष्पक शंख बजाया।

(१७) धनुर्धर काशीराज, महाशस्त्रधारी शिखंडी, विराट, धृष्टद्युम्न और अजेय सात्यकि आदिने भी साथ साथ शंख बजाये।

(१८) द्रुपद और द्रौपदीके पुत्रोंने, वीरबालक अभिमन्युने

---

[१] एक समय श्रीकृष्णने समुद्रमें पंचजन नामक दैत्यको मार उसके पेटसे यह शंख निकाला था। इसलिये इसका नाम पांचजन्य हुआ।

और सभी राजाओंने अपने अपने शंख बजायें।

(१९) उन शंखोंके बजनेसे धरती और आकश गूंज उठा और धृतराष्ट्रकी सेनावालोंकी छाती एक बार दहल गयी।

(२०) कौरवोंने अपनी अपनी जगहोंपर लड़ाईके लिये तैनात होकर जब शत्रुओंपर वार करना शुरु कर दिया तब अर्जुनने भी अपना धनुष उठाया।

(२१-२३) इस प्रकार सब तैयारी हो जानेपर श्रीकृष्णसे अर्जुनने कहा कि मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलो; देखूं तो सही इस सेनामें मुझसे दो हाथ करनेके लिये कौन कौन योद्धा तैयार हैं। दुष्टबुद्धि दुर्योधनकी इच्छा पूरी किया चाहनेवाले इन लड़ाकोंको मैं देखूगा।

(२४-२५) संजयने कहाः-यह सुन श्रीकृष्णने अर्जुनका रथ दोनों सेनाओंके बीच ला खड़ा किया और वहां भीष्म, द्रोण और उपस्थित राजाओंके सामने अर्जुनसे कहाः-देखो पार्थ! ये कौरव खड़े हैं।

(२६-२७) वहां अर्जुनने अपने चाचा, दादा, गुरु, मामा, भाई, भतीजे, पोते, मित्र, ससुर और साथियों को खड़े देखा।

(२८-३०) यह दृश्य देखकर अर्जुनका जी भर आया। बड़ा दुःखी होकर उसने श्रीकृष्णसे कहा कि, हे कृष्ण! मेरे साथ लड़नेके लिये आये हुए इन अपने भाइयोंको देखकर मेरा शरीर बेकाबू हो गया है, मुंह सूखा जाता है, कलेजा कांप रहा है और शरीर रोमांच हो रहा है। हाथसे गाण्डीव धनुष छूटा चाहता है, देह भस्म हो रही है। यहां खड़ा रहनेमें भी समर्थ नहीं हूं। पैर कांपते हैं और चक्कर आ रहे है।

(३१) हे केशव! मैं इस समय बड़े बुरे शकुन देख रहा हूं। अपनेही भाई बन्दोंको मारकर मुझे क्या मिल जाने वाला है?

(३२) मुझे विजय प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है, मुझे राज्य या सुख नहीं चाहिये; हे गोविन्द! मुझे राज्य भोग या जीवनही क्या करना है ?

(३३) जिनके लिये राज्य, सुख, भोग चाहिये वे तो हाथ पर प्राण रख यहां मरने मारनेके लिये तैयार है।

(३४-३५) गुरु, चाचा, भतीजे, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले और सभी नातेदार यहां मौजूद हैं, इन्हे मैं नहीं मारना चाहता, चाहे ये मुझे भले ही मारडाले। चाहे मुझे तीनों लोकों का राज्य क्यों न मिल जाय-इस पृथिवी के राज्य की कौन कहे-मै इनपर हाथ नहीं उठाना चाहता।

(३६) धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमारी क्या भलाई होने वाली है? ये सब तो आततायी हैं। इन्हें मारनेसे हमीको पापके भागी बनना पड़ेगा।

(३७) इस लिये अपने भाइयोंको न मारना ही हमें उचित है। अपने भाइयोंको मारकर हमें कैसे सुख मिल सकता है?

(३८) लोभसे इनकी बुद्धि मारी गई है-इन्हें अपनी जाति को मारनेसे होने वाला पाप या मित्रोंका घात नहीं दिखायी देता।

(३९) पर हम लोग तो जानते है कि कुलक्षयका कितना बड़ा पाप है, तो फिर हमी उस पापमें कैसे प्रवृत्त हों ?

(४०) कुलक्षयसे सनातन कुलधर्मोंका नाश होता है। धर्मका नाश होनेसे अधर्म बढ़ता है।

(४१) अधर्मसे कुलस्त्रियां भ्रष्ट होती हैं और व्यभिचारी स्त्रियोंसे वर्णसंकर सन्तान पैदा होती है।

(४२) वर्णसंकरसे कुलके नाश करनेवाले अपने बचे बचाये कुलके साथ नरकमें जा गिरते है। इनके पूर्व पुरुषों को फिर पिंड या उदक नहीं मिलता-वंशरक्षा नहीं होती-

उनका नाम लेने वाला कोई नहीं बचता, इस प्रकार उन्हें भी नरक वास करना पड़ता है।

(४३) वर्णसंकर उत्पन्न करने वाले इन दोषोंसे कुलके नाश करनेवाले जातिधर्म और वर्ण धर्मका नाश करते हैं।

(४४) हे जनार्दन ! जो लोग यह महापाप करते हैं वे, मैंने सुना है कि, सदा नरकमें सड़ते रहते हैं।

(४५) ओफ़ ! हम लोग बड़ा भारी पाप कर रहे हैं जो राज्य सुखकी इच्छासे अपने ही भाइयोंका काट डालनेपर उद्यत हो रहे हैं।

(४६) यदि शस्त्र लेकर कौरव मुझ निःशस्त्र और अचेत पर टूट पड़ें और मार डालें तो यह उससे कहीं अच्छा है।

(४७) संजयने कहाः—दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े हुए अर्जुनने इस प्रकार कहकर अपना धनुष्य तीर रख दिया और आप बड़े शोक में डूब कर पीछे सरक बैठा !

प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीय अध्याय।

(१) संजयने कहाः-अर्जुनके नेत्र उस समय दया और शोकसे डबडबा आये थे। चेहरा बिलकुल उदास हो रहा था। अर्जुनकी यह अवस्था देख श्रीकृष्ण भगवान् बोलेः—

(२) रे अर्जुन ! युद्धके समयमें यह मोह तुझमें कहां से आ गया ? हा ! यह दशा आर्य नाम धारण करनेवालेको नहीं सोहती ! इससे कुछ स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो जाती ! इसका तो यही परिणाम है कि तेरी सारी कीर्तिपर पानी फिर जायगा।

(३) अर्जुन ! ऐसा कायर मत बन; यह तुझे शोभा नहीं

देता। दिलकी यह कमजोरी छोड़ दे और युद्धके लिये कमर कस।

अर्जुनने कहा:-हे मधुसूदन! जिन द्रोण और भीष्मको मैं सदासे शिर नवाता आया हूं क्या उन्हींसे आज बाणों से युद्ध करूं?

(५) महानुभाव गुरुजनोंको मारकर जीनेसे अच्छा तो यह है कि मैं भीख मांगता फिरूं! सांसारिक सुखोंकी इच्छा करनेवाले गुरुजनोंको मारकर उनकी देहके रक्तसे सने भोगोंको मैं कैसे भोग सकता हूं?

(६) मुझे यह भी समझमें नहीं आता कि हम लोगोंके जीत जानेसे लाभ है या हार जानेसे। जिन लोगोंके बिना हम जीना नहीं चाहते वेही हमारे सामने मुड़कटौअलके लिये तैयार हैं।

(७) शोकसे मेरा हृदय भर गया है। मुझे इस समय विचार करनेकी शक्ति नहीं। इस समय मेरा क्या कर्तव्य है, नहीं सूझता। इसलिये तुमसे पूछता हूं; मेरा जो धर्म हो, जिसमें मेरा लाभ हो, बतलाओ, मुझ अपने शिष्यको उचित शिक्षा दो।

(८) मेरी इन्द्रियोंमें जलन हो रही है, शिर घूम रहा है-तबीयत परेशान है—कोई उपाय नहीं सूझता। सुरलोकका राज्य भी मिले तो क्या? निष्कण्टक राज्यका राजा भी बन जाऊं तो उससे क्या मेरी यह जलन दूर होगी?

(९) संजयने कहा:-इस प्रकार निद्राको जीतनेवाले अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहकर यह कहा कि-'अब मैं न लड़ूंगा' और आप चुप हो बैठा।

(१०) दोनों सेनाओं के बीच अर्जुन की उस उदास मूर्त्तिको

देखकर श्रीकृष्ण भगवानने हंसकर उससे कहाः—

(११) रे अर्जुन ! तू ऐसोंके लिये दुःख कर रहा है जिनके लिये दुःख करना अनुचित है; और इसपर भी पंडिताईकी बातें करता है ! पंडित कभी मरे जीतोंके लिये दुःख नहीं किया करते।

(मरना जीना क्या कोई ऐसी वस्तु है जिसपर दुःख किया जाय या खुशी मनायी जाय ? मरना नाम आत्माके मरनेंका नहीं है, न जीना ही आत्माके जीनेका नाम है। यह देह-जो पंच महाभूतोंसे अर्थात् पृथिवी (मिट्टी) आप (जल), वायु (हवा), तेज (आग), और आकाशसे बनी है वही देह-मरती है, जीती है। आत्मा मरता जीता नहीं—वह शरीर धारण कर लेता है और फिर छोड़ भी देता है। वह यदि मरता नहीं तो उसके लिये दुःख क्यों ? आत्मा अमर, अजन्मा है। हमारे शरीरके अन्दर जो आत्मा है वह सदैव रहता है और वही आत्मा हम हैं; इस लिये—)

(१२) हम, तुम और ये राजा लोग सदासेही हैं, पहले थे, अब भी हैं और इसके बाद भी सदा रहेंगे। हम लोग कभी न मरेंगे।

(१३) देह धारण कर रहनेवाले इस आत्माकी देहको ही जिस प्रकार बचपन, जवानी और बुढ़ापा आया करता है उसी प्रकार मृत्यु भी इसी देहकी ही होती है—उस मृत्युसे समझदार मनुष्य नहीं डरा करते।

(सुख दुःख, सरदी-गरमी या भला बुरा किसीको तभी लगता है जब * इंद्रियों पर बाहरी चीजों का असर पड़ता है;

---

* इद्रियां १० हैं, यथा—१ आंख, २ कान, ३ जीभ ४ नाक. ५ त्वचा, ६ हाथ, ७ पाव, ८ मुंह, ९ उपस्थ और १० गुदा (१ ली पांच ज्ञानेंद्रियां और

जैसे किसीकी सूरत तभी हमें अच्छी और बुरी मालूम होती है जब आंख उसे देखती है और उसकी तसबीर अन्दर बनाती है ; उसी तरह खट्टी, मीठी, तीती चीजें जीभसेही ताल्लुक रखती हैं; और नाक, कान, त्वचाका भी बू-बदबू, सुर बेसुर और सरदी गरमीसे यही संबंध है। तात्पर्य, इंद्रियोंका बाहरी वस्तुओं-के साथ किसी तरहका मिलनाही खुशी या रंज पैदा करता है। इंद्रियोंके बाहरी वस्तुओंसे ऐसे मिलनेको मात्रा-स्पर्श कहते हैं ।)

(१४) मात्रास्पर्श ही सरदी-गरमी या सुख दुःख देनेवाला है और यह मात्रास्पर्श कुछ आत्माकी तरह नित्य नहीं है ; यह आज है, कल नहीं , इसलिये इसके भरोसे न रहो और जब तक ये इंद्रियां है और वे × विषयोंको स्पर्श करती हैं तबतक उन्हें झेल ले ।

(१५) हे पुरुषश्रेष्ठ ! ये इन्द्रियां खुशी और रंजकी परवा न करनेवाले धैर्यवान् पुरुषको नहीं सतातीं । वही पुरुष मृत्युको लांघ कर अमर हो सकता है ।

ऐसे पुरुषकी मृत्यु नहीं होती; जिसकी मृत्यु होती है वह उसकी देह है जिसे वह अपनी आत्मा नहीं समझता । देह मिट्टी, जल, आग आदिसे बनी है, आत्मा मिट्टी, या जल या आग नहीं है। जिस मिट्टीको पैरोंतले रोंदते हुए हम चलते है और जो जल, आग, आस्मान हवा हम रोज व्यवहारमें लाते हैं वही मिट्टी और

---

२ ये पांच कर्मेंद्रियां कहाती हैं ।

× पंच ज्ञानेंद्रियां पांच प्रकारके ज्ञान प्राप्त करती हैं अर्थात् कान शब्द सुनता है। त्वचा सरदी गरमी मालूम करती है। आंख रूप देखती है, जीभ रस चखती है और नाक बू लेती है। इंद्रियों के येही पांच विषय कहाते हैं। १ शब्द, २ स्पर्श, ३ रूप, ४ रस, ५ गन्ध ।

वही जल, आग, आस्मान्, हवा इस देहमें है; उन्हीं की यह देह है। वेही पांच तत्व मिल कर देह बन जाती हैं; जैसे वे अलग अलग पांच तत्व है वैसेही मिले हुए भी है। यदि उनके अलग अलग रहते हमें उनकी परवा नहीं तो उनके एक स्थानमें एक रूप बनतेही हम उनकी परवा क्यों करते हैं। यह देहही हम नहीं है—यह ज्ञान न रहने से हम अपनी देहको ही हम समझते हुए आत्मा को—अपनेही को—भूल जाते है। सच्ची बात भूल कर झूठी गले लगाते हैं। आत्मा जो सत्य है वह बिछुड़ जाता है और देह जो मिथ्या है वही आत्मा बन जाती है। परंतु सत्य छिपता नहीं-वह सदा रहता है और असत्यके बादल गरज कर, पानी बहाकर, सत्य को थोड़ी देर छिपाकर चले जाते हैं। जो वस्तु सत्य है वही वास्तवमें है और जो मिथ्या है—नहीं है—वह नहींही जानिये।

(१६) जो वस्तु मिथ्या है उसका रहना नहीं होता-वह रहही नहीं सकती और जो वस्तु सत्य है-वास्तवमें है-वह न रहे ऐसा नहीं हो सकता। (हमारा आत्मा-स्वय हम-यदि वास्तव में हैं तो वह नहीं है ऐसा कभी नहीं हो सकता) इस सत् और असत्के बारेमें जो सच्चा सिद्धान्त है (असत् कोई पदार्थ नहीं है-निरा भ्रम है ; और सत्ही सच और सदा रहनेवाला है) उसे ज्ञानियोंने जाना है।

(१७) वह सत् वस्तु सदा रहनेवाली है इसलिये उसका कभी नाश नहीं होता यह समझ लो; यह सारा संसार उसीसे भर गया है ; उसमें कभी कोई घटबढ़ नहीं होती और कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो उसका नाश कर सके।

(१८) यह जो देह है वह तो छूटही जानेवाली है-इसका अन्त होनेही वाला है ; परन्तु देहके अन्दर जो शरीरधारी

आत्मा है वह अमर कहाता है; वह किसीके मारे मरनेवाला नहीं है, जिसकी सूरत शकलकी तसवीर किसी चितारीके बनाये नहीं बन सकती, न किसीके शब्द चित्रमें वह उतर सकती है। उसीकी यह देह है जो नष्ट हो जाती है और जो मिथ्या है। इस लिये हे अर्जुन! तू युद्धसे मुंह मत मोड़।

(१९) जो लोग इस आत्माको मारने या मरनेवाला कहते है वे मूर्ख हैं; क्योंकि यह आत्मा न किसी को मारता है और न मरताही है।

(२०) यह आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता, न कभी मरता है। यह भी संभव नहीं कि आत्मा पहले रहा हो और फिर नष्ट हो जाय अथवा फिर उत्पन्न हो; क्योंकि यह तो अजन्मा, नित्य (सदा रहने वाला) और अनादि है। शरीर मर जाय तो जाय पर आत्म नहीं मरता।

(२१) जो पुरुष इस प्रकार आत्माको अविनाशी (नष्ट न होनेवाला) नित्य, अजन्मा और अव्यय (अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी घटबढ़ नहीं होती) समझता है वह किसको और कैसे मार या मरवा सकता है?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२॥

(२२) जिस तरह फटे पुराने कपड़े फेंक कर मनुष्य नये कपड़े पहन लेता है उसी तरह फटे पुराने शरीरको छोड़कर आत्मा नवीन शरीर पहन (धारण कर) लेता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥

(२३) इस आत्माको कोई शस्त्र छेद नहीं सकता ; इसे आग जला नहीं सकती ; पानी इसे सड़ा नहीं सकता और गरम हवा इसे कभी सुखा नहीं सकती ।

(२४) यह घायल होनेवाली, जल जानेवाली, सड़नेवाली या सूखनेवाली वस्तु नहीं है । यह नित्य, सर्वत्र रहनेवाली, अचल अटल, और अनादि है (अर्थात् कबसे है यह कोई भी नहीं जानता) ।

(२५) यह-इन आंखोंसे-दिखायी नहीं देती; किसी इंद्रिय-से इसका पता नहीं लगता ; इसमें किसी तरहका हेर फेर नहीं होता ; इसलिये—यह जान कर—इसके लिये तुझे शोक न करना चाहिये ।

(२६) पर इसपर भी यदि तू इसे-देहकी तरह-रोज रोज मरने वाला और जीने वाला समझता है तो भी रे महाभुज ! तुझे इसके लिये शोक न करना चाहिये ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

(२७) जो जीता है-जन्म लेता है वह अवश्य मरता है; और जो मरता है वह जरूर जन्म लेता है। इसमें किसी का बस नहीं चलता; तब क्यों नाहक शोक करता है ?

(किसीके आदिका पता नहीं लगता और किसी के अन्त-का भी थाह नहीं मिलता । कहांसे कौन जन्म लेता है और मरनेपर कौन कहां जाता है, इसका पता किसको है ? इसलिये—)

(२८) सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है और सृष्टिकी वस्तुएं नष्ट होकर अन्तमें कहां जा मिलती है यह कोई नहीं जानता; लोग केवल उसकी मध्यदशा-अर्थात् जीने और मरनेके बीचकी दशा

जानते हैं; यदि यह दशा है-यदि मरने मारनेपर, क्या होनेवाला है यह तू नहीं जानता तो शोक किस बातका करता है?

(२९) इस आत्माको कोई कोई एक आश्चर्य (अचरज) समझते हैं, कोई मुंहसे कह देते हैं कि यह एक आश्चर्य है और कोई यह सुना करते हैं; पर सुनकर भी इसे कोई नहीं जान लेता।

(३०) शरीरको घर बनाकर रहनेवाला यह आत्मा नित्य और अमर-किसीके मारे न मरनेवाला-है; यह सबके शरीर में रहता है। (संसारके सारे चर अचर इधर उधर हो जायँ, मर मिटें तो भी इसको कोई मार नहीं सकता-फिर) इस संसार के विषयमें दुःख क्यों करता है?

(३१) अरे अपना क्षत्रिय धर्म देख कर भी तुझे युद्धसे हटते लज्जा आनी चाहिये; धर्म युद्धसे बढ़कर मंगल क्षत्रिय-का और क्या है?

(३२) रे पार्थ! यह युद्ध तो तेरे लिये अपने आप खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है; युद्ध का ऐसा अवसर पुण्यात्मा क्षत्रियों-को ही मिलता है।

(३३) इसपर भी यदि तू युद्ध न करेगा तो अपने धर्म और जस दोनों से हाथ धो पाप का भागी बनेगा।

(३४) सब लोग तेरी ऐसी निन्दा करेंगे जिसकी हद नहीं; भले आदमीके लिये निन्दा सुननेसे मर जानाही अच्छा है।

(३५) विपक्षके जो बड़े बड़े महारथी हैं वे समझेंगे कि अर्जुन डर कर रणक्षेत्रसे पीछे हट गया; पहले तो उन्होंने तेरी बहुत तारीफ और सन्मान किया, पर अब तुझसे वे घृणा करेंगे।

(३६) तेरे जो शत्रु हैं वे तेरे बलकी निन्दा कर तुझे ऐसी

ऐसी बातें सुनावेंगे जिन्हें मुंहपर लाना न चाहिये; क्या इससे भी बढ़कर और कोई दुःख है?

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय
युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

(३७) अरे! युद्धमें यदि तेरा शरीर छूट जाय तो तुझे स्वर्ग मिलेगा और यदि तू जीत गया तो इस भूमिका तूही राजा है। इसलिये रे अर्जुन! युद्धके लिये कमर कस और तैयार हो जा।

(३८) सुख और दुःखको एकसा समझ कर और उसी प्रकार लाभ-हानि और हार-जीतकी पर्वा न कर युद्धके लिये तैयार हो जा; इससे कुछ तुझे पाप न होगा।

(३९) यह मैंने तुझे सांख्य अथवा परमार्थका ज्ञान बताया है; अब योग (कर्म योग)-की बात सुन जिसका ज्ञान हो जानेसे तेरा अज्ञान दूर हो और कर्म क्या है, कर्म किस प्रकार करना होता है और कर्म करनेसे तेरी क्या हानी और लाभ है, इस बातका ज्ञान हो जायगा। फिर तुझे कर्म करते मोह नहीं उत्पन्न होगा।

(४०) कर्मयोगके अनुसार कर्म करनेसे किसी कर्मका आरंभ भी नाहक नहीं होता; उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती; और थोड़े कर्मसे भी बड़ी विपदसे रक्षा होती है।

(ऐसा कर्म करनेके लिये सबसे पहिली बात जो आवश्यक है वह यह है कि कर्म करनेवालेकी बुद्धि स्थिर-एकाग्र-इधर उधर न बहकने वाली होनी चाहिये। ऐसी बुद्धिका नाम 'व्यवसायात्मिका' बुद्धि है।)

(४१) व्यवसायात्मिका बुद्धि एकही होती है; वह बुद्धि

दूर दूर फैलकर कभी इस ओर और कभी उस ओर नहीं दौड़ने जाती। जिनकी बुद्धि ठिकाने नहीं है उन्हींका ऐसा हाल होता है।

(४२-४४) हे पार्थ ! स्थिर बुद्धि होने योग्य मनकी अवस्था कदापि उन लोगोंको प्राप्त नहीं होती जिनकी इच्छाही उनकी आत्मा है, जो लोग सन्मार्गसे हटकर मीठे मीठे वचनोंमेंही अटक गये हैं, जो ऐसेही वचनोंमें विश्वास करते हैं जिनमें कहा गया है कि अमुक कर्म करनेसे अमुक जन्म प्राप्त होगा और अमुक भोग भोगनेको मिलेंगे; ऐसा कहनेवाले और माननेवाले दोनोंही मूर्ख है। जो लोग वेदोंका तात्पर्य न समझ कर शब्दों-की खैचातानमें लगे हैं ; जिनकी एक मात्र इच्छा स्वर्गकी प्राप्ति है और जो दुनियवी खयालोंमें चूर हैं उन्हें कभी बुद्धिकी स्थिरता नहीं प्राप्त होती।

(४५) वेदोंमें सत्व, रज, और तम इन्हीं तीन गुणोंके विकाशका वर्णन है। अर्जुन ! तू इन तीनोंको लांघकर, सुख और दुःख, हानि और लाभ, सरदी और गरमी, हर्ष और विषाद मन से दूर कर, सदा सत्वसंग हो, लाभ और लाभकी रक्षाका विचार छोड़ आत्मामें लीन हो जा।

(इससे कुछ वेदोंकी महिमा कम नहीं हो जाती। श्रीकृष्ण भगवान् वेदोंको उतनेही पूज्य समझते है जितने वे वास्तवमें हैं पर यहां अर्जुनको यह उपदेश देते समय उन्होंने वेदोंके अगाध भंडारकी ओर उतना ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा है जितना उसके तात्पर्यकी ओर लक्ष्य किया है , क्योंकि)—

(४६) ताल तलैयोंमें जो जल है वही जल अथाह समुद्रमें है। एक स्थानके जलसे जो काम निकलता है वही दूसरे स्थान के-महासागरके-जलसे निकलता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानका अमृत जिसे थोड़ेहीमें मिल गया है उसके लिये अमृतमय वेदोंकी

क्या आवश्यकता है ?

(४७) अर्जुन ! कर्म करनेहीभरका तेरा हक है ; फलका विचार करनेका तेरा अधिकार नहीं है ; कदापि ऐसी इच्छा मत कर कि यह कर्म करनेसे मुझे अमुक फल मिलेगा ; पर कर्म न करने और चुप बैठ रहनेका विचार भी छोड़ दे ।

(४८) धन, स्वर्ग आदिको तुच्छ समझनेवाले हे अर्जुन ! परमात्मापर पूर्ण विश्वास रख, विमल चित्तसे, फलाफलकी आशानिराशा छोड़, हार जीतको समान समझता हुआ तू अपना काम कर। ऐसेही सबको–सुख दुःखादिको–एकसा समझना योग कहाता है ।

(४९) कर्म करते हुए उसके फलकी इच्छा छोड़ देनी चाहिये । यह ज्ञान सदैव रखकर जो कर्म किया जाता है उससे और तरहका कर्म–अर्थात् इच्छा विशेषसे किया जाने वाला कर्म बहुत हलके दरजेका है; इसलिये ऐसा कर्म करना छोड़दे और उच्च कर्मकी शरण ले; इच्छा पूरी करनेके लिये जो लोग कर्म करते हैं वे अज्ञानी हैं ।

(५०) जो ज्ञानी हैं वे पाप और पुण्य दोनों छोड़ देते है—जिसे इच्छाही नहीं रही उसे पापपुण्य किस बातका ?—इसलिये अर्जुन ! अपने मनको ठिकाने कर—सुख और दुःखके पीछे न दौड़; कर्म करनेमें यही कुशलता है और इसी कुशलताको योग कहते हैं ।

'योगः कर्मसु कौशलं ।'

(५१) कर्मका फल छोड़कर जो ज्ञानी पुरुष अपना मन ऊँचा रखते हैं वे जन्म-मृत्युके फेरसे छूटकर उस स्थानको जा पहुँचते हैं जहां क्लेशका नामोनिशान भी नहीं है ।

(५२) जब तेरी बुद्धि मोहका अज्ञान पार कर जायगी

तव तूने आजतक जो कुछ ज्ञानकी बातें सुनी हैं और इस समय सुननेकी इच्छा है उन बातोंसे तेरा मन हट जायगा।

(५३) नाना प्रकारके वेदमंत्रोंसे घबरायी तेरी बुद्धि जब एक स्थानपर अचल अटल हो जायगी तब तुझे योगियोंकी दशा प्राप्त होगी।

(अचल-अटल बुद्धिकी बात सुन अर्जुन ऐसे अचलअटल बुद्धिवाले ' स्थितप्रज्ञ ' की बात पूछते हैं।)

अर्जुनः—

(५४) स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं; वह कैसे आचार-विचार रखता है ?

श्रीकृष्ण कहते हैं,-

(५५) मनकी सारी इच्छाओंको छोड़कर जब मनुष्य अपने आत्मासे ही संतुष्ट हो रहता है तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

(५६) दुःखसे जिसका मन चलविचल नहीं होता; सुख रहते जिसे मौज उड़ानेकी इच्छा नहीं रहती; जो किसीसे नहीं डरता और किसीपर नहीं बिगड़ता उसे स्थितधी* कहते हैं।

(५७) संसारकी किसी वस्तुसे भी जो मनुष्य अति स्नेह नहीं रखता और जो शुभ और अशुभसे सुखी या दुःखी नहीं होता उसकी बुद्धि स्थिर है।

(५८) जब ऐसा मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको कछुएके समान सारे विषयोंसे खींच लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर कहाती है।

(५९) जिस मनुष्यने इन्द्रियोंको कावूमें रखा है उस मनुष्यसे विषय दूर हो जाते है; परन्तु उन विषयोंकी चाह एक वारगीही छूट नहीं जाती। यह चाह तभी छूटती है जब उसे परब्रह्मके दर्शन होते है।

* स्थिरबुद्धिवाला, स्थितप्रज्ञ।

(६०) हे कुन्तिपुत्र ! बड़े बड़े यत्न करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंके मनको भी ये मदमत्त इंद्रियां वेबस कर मोह लेती हैं।

(६१) इन सब इंद्रियोंको अपने काबूमें ला मन निर्मल और निश्चिन्त कर मेरे ही ध्यानमें लग जाना चाहिये । इस प्रकार जिसकी इंद्रियां दबी हैं उसीकी बुद्धि स्थिर है ।

(६२) रूप, रस, गन्ध आदि विषयोंका ध्यान करनेवाले पुरुषका मन उन विषयोंकी ओर खिच जाता है और उससे उस विषयकी प्रीति उत्पन्न होती है । ऐसी प्रीतिसे काम-इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छासे ही क्रोध आता है ।

(६३) क्रोधसे अविचार, अविचारसे भ्रम, भ्रमसे बुद्धिका नाश और बुद्धिके नष्ट होनेसे जीवका सर्वनाश होता है ।

(६४) प्रीति-अप्रीति छोड़ इंद्रियोंको अपने काबूमें रखनेवाला संयमी पुरुष विषयोंका उपभोग करके भी प्रसन्नता-शान्ति-लाभ करता है ।

(६५) इस प्रकार प्रसन्नता लाभ होनेपर इस पुरुषके सारे दुःख मिट जाते हैं। ऐसे प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि बहुत शीघ्र स्थिर हो जाती है ।

(६६) जिसका चित्त ठिकाने नहीं है उसे ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। जिस मनुष्यका मन डावांडोल हो रहा है वह आत्माका ध्यान नहीं कर सकता। जो मनुष्य आत्माका ध्यान नहीं करता उसे शान्ति नहीं मिल सकती। और जिसे शान्ति नहीं मिल सकती उसे सुख कब मिलनेवाला है ।

(६७) जिस मनुष्यका मन भटकनेवाली इंद्रियोंके पीछे पीछे दौड़ा करता है उसकी बुद्धिको उसीका मन वैसेही नष्ट करता है जैसे पानीमें चलनेवाली नावको हवा भ्रष्ट कर देती है।

(६८) इसलिये हे अर्जुन! जिस पुरुषकी इंद्रियां सब

प्रकारसे विषय-विमुख हैं उसीकी बुद्धि स्थिर जाननी चाहिये ।

(६९) सारे संसार की जो रात है वही इंद्रियोंका संयम करनेवाले पुरुषका दिन है; और जिसमें संसार जागता है उसे मुनी लोग रात समझते हैं।

आशय यह है कि सांसारिक लोग जैसे विषयोंमें मगन रहते हैं वैसे संयमी नहीं रहते; और संयमी जो साधना करते है उससे सांसारिक लोग विमुख हैं ।

(७०) भरपूर भरे हुए परन्तु अपने स्थानपर अटल-अचल बनकर डटे हुए समुद्रमें जिस प्रकार चारो ओरसे नदियोंका पानी आ मिलता है और समुद्रकी सीमा ज्योंकी त्यों बनी रहती है उसी प्रकार जिस पुरुषके पास नाना प्रकारके विषय-विलास आते हुए भी उसकी मर्यादाको नहीं तोड़ सकते उसी पुरुषको शान्ति-सुख मिलता है; इच्छाके पीछे भटकनेवालेको नहीं ।

(७१) जो महापुरुष सारी इच्छाओंको छोड़कर उदासीन, मोहहीन, अभिमानरहित हो जाता है उसीको शान्ति मिलती है।

(७२) हे पार्थ ! ब्रह्मपद प्राप्त करने वाले पुरुषकी स्थितिका यह मैंने वर्णन किया । ऐसी स्थितिमें किसी प्रकार अविचार नहीं उत्पन्न होता । शरीर छूट जानेतक ऐसीही स्थितिमें रहनेसे ब्रह्मनिर्वाणकी प्राप्ति होती है ।

दूसरा अध्याय समाप्त ।

तीसरा अध्याय ।

अर्जुन—

(१) हे जनार्दन! यदि तुम्हारी समझमें कर्मसे ज्ञान ही श्रेष्ठ है तो तुम मुझे जान बूझकर इस घोर काममें क्यों लगाते हो ?

(२) तुम्हारी बातोंसे साफ साफ कुछ भी मतलब नहीं

निकलता जिससे मेरी बुद्धि कोई काम नहीं करती। इसलिये ऐसी एक ही निश्चित बात बता जिसमें मेरी भलाई हो।

(३) श्रीकृष्णने कहाः–हे पापभीरु अर्जुन ! मैं पहिले ही ब्रह्मप्राप्तिके दो साधन बतला चुका हूं। एक साधन ज्ञानयोग है और दूसरा कर्मयोग। ज्ञानयोग ज्ञानियोंके लिये है और कर्म-योग स्वार्थत्यागी कार्यकर्त्ताओंके लिये।

जिसका जैसा अधिकार हो–जैसी योग्यता हो–उसका वैसा ही साधन हुआ करता है। सभी मनुष्य ज्ञानयोगके अधि-कारी नहीं हैं। ज्ञानयोग बड़ा कठिन साधन है। केवल काम करनेसे मुंह मोड़लेना–आलस्यमें डूबे रहना–ज्ञानयोग नहीं कहाता।

(४) काम करना बन्द कर देनेसे ही कोई कर्मके बन्धनोंसे नहीं छूट सकता। सन्याससे अर्थात् कामोंको छोड़ देनेसे कोई सिद्ध पुरुष नहीं बन सकता।

(५) संसारमें कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो पलभर भी बिना किसी प्रकारका काम किये रह सके। यह तो प्रकृतिका नियम ही है कि मनुष्य हर दम किसी न किसी काममें लगा रहता है—कामसे वह अपना पिंड नहीं छुड़ा सकता।

इसलिये सब किसीको काम करना ही चाहिये। स्मरण रहे, जो आदमी चुपचाप बैठा रहता है वह इस मौनावस्थामें कोई न कोई खुराफात जरूर सोचा करता है। मन खुराफातोंमें लग जानेसे वैसे ही कार्य करनेकी ओर अधिक अधिक प्रवृत्ति होती है। वह मनुष्य बुराईका घर बनता है। मनुष्यका सबसे बड़ा शत्रु यह आलस्य ही है।

(६) इस प्रकारका मनुष्य अर्थात् जो कोई काम नहीं करता और बैठे बैठे मनसे विषयोंका ध्यान किया करता है वह सच्चा आदमी नहीं है उसे मिथ्याचारी कहते हैं।

(७) परन्तु जो मनुष्य मनको काबूमें रखकर सब काम किये जाता है वही उत्तम पुरुष है—उसीको 'असक्त' कहते हैं।

बात साफ समझमें आनेके लिये एक उदाहरण देते हैं। वर्षाऋतुमें नदीमें तरखा आया करता है। उस तरखेमें तैरना जरा टेढ़ी खीर है। यदि अपना शरीर संभाल रखनेकी सामर्थ्य न हुई तो मनुष्य तरखेमें बह जायगा और किसी चट्टान या घाट किनारेसे टकराकर उसका शिर चकनाचूर हो जायगा। ऐसी ही दशा उस सांसारिक मनुष्यकी है जो प्रपचके कार्योंको करता हुआ उनसे प्राप्त होनेवाले आनन्दकी नदीमें बह जाता है। नदीमें क्या और संसारके कार्योंमें क्या, बह जानेवालेकी बड़ी दुर्गति है। पानी काटकर तैरना चाहिये और विषयोंकी लहरें हटाते हुए डटकर काम करना चाहिये। कर्तव्य समझकर काम करना चाहिये; उससे उठनेवाली क्षणिक सुखकी लहरोंसे बाज़ आना चाहिये। जो मनुष्य इस तरह काम नहीं करते उन्हें यह संसार दुःखमय मालूम होता है। परन्तु जो दिलकी कमजोरी दूर कर, मनको अपने कब्जेमें रखकर मर्दकी तरह काम करनेवाला है उसे इसी संसारमें सब कुछ प्राप्त हो जाता है और उसे जरासे स्वार्थकी आशामें फँसने और फिर नाउमेदीके चट्टानसे टकरानेकी नौबत नहीं आती। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यही उपदेश दिया है:

(८) तू अपना काम कर—अपना धर्म मत छोड़—तेरा जो कर्म है उसे अवश्य कर; क्योंकि कर्म न करनेसे कर्म करना ही अच्छा है। यदि तू अपना काम आप न करेगा तो तेरे शरीरकी रक्षा भी न हो सकेगी।

यह बड़ा भारी उपदेश है और इसकी सत्यताके प्रमाण सब किसीके पास मौजूद है। कौन नहीं चाहता कि अपना

शरीर बना रहे? शरीर बनाए रहनेके लिये एक उपाय काम करना है। जो आदमी काम नहीं करता उसका शरीर निरुपयोगी होता है। और संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता जो निकम्मा हो। वह पदार्थ सड़ जाता है—उसमें कीड़े पड़ते हैं। इसलिये शरीररक्षाके निमित्त कर्म करना चाहिये। और शरीर-रक्षा धर्म है बल्कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—सबसे पहला धर्म है। क्योंकि इसी शरीरसे और सब कर्मोंका पालन होता है। इसलिये शरीर सुदृढ़ रखकर काम करना चाहिये। शरीररक्षाके लिये काम और ब्रह्मप्राप्तिके लिये भी काम ही करना होता है। यह जीवन ही कर्म्ममय है। पर ये सब काम फंसकर करनेके नहीं हैं। वे दोनों तरहके काम करनेवाले अपनी मिट्टी खराब करते हैं जो हाथपर हाथ धरकर बैठे रहते हैं या काम करते हुए अपने मनको काबूमें नहीं रख सकते। पुरुष तो वह है जो काम तो कर डाले पर उसमें फंसा न रहे। अर्जुनसे श्रीकृष्ण भगवान् क्या कहते हैं, सुनिये:

(९) जो काम, उस कामसे प्राप्त होनेवाले आनन्दके लिये अथवा और किसी स्वार्थके लिये, किये जाते हैं, वे मनुष्यको फंसाते है—उन कामोंकी बेड़ियोंसे मनुष्य जकड़ जाता है। इसलिये, हे कुन्तिपुत्र! स्वार्थको त्यागकरके कर्तव्यके लिये ही, कर्तव्य कर।

परमात्माने प्राणिमात्रको स्वतंत्र उत्पन्न किया है। प्राणीके साथ ही साथ परमात्माने एक ऐसी शक्ति उत्पन्न की है जिससे जीव अपनी सुखसामग्री बढ़ा सकते हैं। वह शक्ति स्वार्थ-त्याग है। इसीका नाम यज्ञ है। यज्ञहीसे मनुष्य सन्तान उत्पन्न करता और पालता पोसता है। यज्ञहीसे मनुष्य देवताओं और सारे जीवोंको सन्तुष्ट रखता है। यज्ञहीसे सब अच्छे काम होते हैं। यज्ञहीसे देश और देव, जनार्दन तथा जनदेवताकी सेवा होती है।

परमात्मा, प्राणीमात्र, मनुष्यजाति, अपने देश, अपने समाज, अपने परिवार, तथा अपनी और अपने पड़ोसियोंकी, आसपास रहनेवालोंकी सेवाका ही नाम यज्ञ है।

इस यज्ञका भारतवर्षमें कैसा माहात्म्य था? आर्योंके घर घरमें यज्ञ हुआ करते थे। आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त, ब्रह्म और ब्रह्माकी सारी सृष्टिके एक एक प्राणीको सन्तुष्ट करना प्रत्येक आर्यका धर्म है। अतिथिसेवा करना यह भी एक महायज्ञ समझा जाता था। गो-यज्ञ भी ऐसाही गो-सेवा रूप महायज्ञ था। यज्ञ बड़ी पवित्र वस्तु है—यज्ञ महातेजस्विनी शक्ति है। यज्ञके बिना कोई काम नहीं होता। यह सृष्टि भी ब्रह्माके यज्ञका ही फल है। यज्ञहीसे यह सृष्टि हुई, इसकी रक्षा भी यज्ञहीसे होती है। ऋषि मुनियोंकी सन्तानोंको इस यज्ञका माहात्म्य समझना चाहिये। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं:

(१०) ब्रह्माने प्रजाके साथ साथ यज्ञ उत्पन्न करके कहा कि, हे प्रजाओ! इसका उपयोग कर (स्वार्थत्याग कर) तुम लोग खूब बढ़ो और अपनी इच्छाओंको इसके द्वारा पूर्ण करो।

यह स्वावलंबन और स्वार्थत्यागकी शिक्षा कितनी अनमोल है! भारतवासियो! अपने बलपर खड़े होना सीखो—अपना सारा भरोसा एक यज्ञहीपर रखो—स्वार्थत्यागही तुम्हारी कामधेनु है। संसारमें ऐसा भी कोई पदार्थ है जो स्वावलंबन और स्वार्थत्यागसे प्राप्त न हो?

(११) इस यज्ञके द्वारा पूज्य पुरुषों और महात्माओंकी रक्षा करो—उन्हें संतुष्ट करो; और इसी यज्ञसे वे पूज्य देवता तुम्हारा कल्याण करें। इस प्रकार एक दूसरेको मदद कर तुम ब्रह्मपद प्राप्त करो।

(१२) तुम्हारे यज्ञसे संतुष्ट होकर देवता तुम्हारी इच्छा-

ओंको पूरी करेंगे। परन्तु देवताओंके दिये दानका जो बिना लौटाए ही उपभोग करता है वह चोर है।

(१३) यज्ञ करके—सबको संतुष्ट कर-अपने लिये जो बच जाय उसपर ही संतुष्ट रहनेवाला सज्जन सब पापोंसे मुक्त होता है। और जो लोग दूसरोंको कुछ देना नहीं चाहते—बिना यज्ञ किये—आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सब जीवोंको बिना आहुति दिये ही—अपने पेट भरनेकी फिक्र करते हैं—जो अपनेही लिये रसोई बनाते हैं वे पापके भागी बनते हैं।

(१४) अन्नसे ही प्राणी उत्पन्न होते है। और अन्न वृष्टिसे पैदा होता है। वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मका फल है।

(१५) कर्म ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ और ब्रह्म स्वयं भगवान्‌से। इस प्रकार ब्रह्म सब जगह सब समय और सब यज्ञोंमें मौजूद है।

(१६) जो इस प्रकार ब्रह्म, कर्म, यज्ञ आदिके चक्रके पीछे पीछे नहीं चलता अर्थात् जो सत्कर्म करके ब्रह्मप्राप्तिकी चेष्टा नहीं करता वह व्यर्थ ही जीता है—वह इन्द्रियोंके बसमें रहता हुआ पापके गालमें सड़ता है।

* * *

(१७) उस आदमीकी बात ही जुदी है जिसे आत्मज्ञान हो चुका है—जो आत्मामें ही रत, तृप्त और संतुष्ट है उस मनुष्यके लिये कोई कार्य ही करना बाकी नहीं है।

(१८) वह यदि कोई कार्य करे या न करे तो भी उसको कोई लाभहानि नहीं है। इस ससारसे उसे किसीके मतलबके लिये किसीके मुंहकी ओर ताकनेकी जरूरत नहीं।

* * *

(१९) इसलिये हे अर्जुन! तू सदा असक्त होकर-इच्छा छोड़कर-कर्तव्य कर। इस तरह जो कर्तव्य करता है वह परम

पदको प्राप्त करता है।

(२०) कर्मके ही बलपर जनक आदि राजर्षि और ब्रह्मर्षियोंने मोक्ष लाभ किया। कमसे कम लोगोंको काममें लगानेके लिये तुम्हें कर्म करना चाहिये।

विद्वानोंपर इस बातकी बड़ी भारी जिम्मेदारी है कि लोग अपनी इस शोचनीय और अनिश्चित अवस्थामें कौन काम करें, कौन सुधार करें, कैसा पहिराव पहिरें, कौन भाषा बोलें, किन विचारोंको विचारें, संक्षेपमें उनकी कैसी रहन सहन हो। यह जिम्मेदारी उन विद्वानोंपर है जो अपनेको विद्वान समझते हुए देशकी सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। वे जैसी रहन सहन लोगोंमें चलाना चाहते हैं उस ढंगसे उन्हें खुद रहना चाहिये। उन्हें स्मरण रखना चाहिये:

(२१) श्रेष्ठ पुरुष जो जो काम करते हैं वे ही काम सर्वसाधारणमें अच्छे समझे जाते हैं और उन्हींका अनुकरण होता है। वे जिस बातको प्रमाण मानते हैं सर्वसाधारण भी उसी बातपर पूरा भरोसा रखते हैं।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भगवान्‌को ही देखिये। क्या उन्हें इस सारे संसारके भीतर-बाहरका ज्ञान नहीं था? वे पूर्ण ज्ञानी पुरुष थे। परन्तु सर्वसाधारणमें जोश फैलाने और उन्हें सत्कर्ममें लगानेके लिये उनका जीवन कैसा ज्वलन्त कर्ममय हुआ है। उन्हींके वचन सुनिये:—

(२२) तीनों लोकोंमें मेरे लिये कोई काम बाकी नहीं है; कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो मुझे न मिली हो या जो मुझे प्राप्त करनी हो। फिर भी मैं कर्म करता हूं।

(२३) अगर मै चुपचाप हाथपर हाथ धरके बैठ रहूं और कोई काम न करूं तो सभी मनुष्य मेरी देखादेखी सुस्त और

निकम्मे बन जायंगे।

(२४) अगर मैं कर्म न करूं तो यह दुनियां तहस नहस हो जायगी और मनुष्यजातिकी बरबादी और वर्णसंकरका मैं ही कारण बनूंगा।

(२५) जिस प्रकार स्वार्थकी इच्छासे मूर्ख लोग कर्म करते है उसी प्रकार हे अर्जुन! विद्वान् पुरुष लोगोंकी भलाई सामने रखकर कर्म किया करते हैं।

(२६) (संसार निःसार है-तुम्हारे देवीदेवता जड़ है-तुम जिन रीति-रस्मोंको मानते हो-वे धर्म नहीं हैं इत्यादि बातें कहकर फलकी) इच्छासे कर्म करनेवाले मूर्ख जनोंके दिलमें जमे हुए और उपकार करनेवाले विश्वासको हटानेकी चेष्टा न करो। विद्वान्को चाहिये कि वह स्वयं कर्म करके अपने उदाहरणसे सब प्रकारके सत्कर्मोंमें लोगोंको लगावे।

(२७) जितने काम होते हैं वे सब प्रकृतिके नियमसे ही होते हैं उसमें गर्व करना मूर्खोंका काम है। वह मूर्ख है जो समझता है कि अमुक अच्छा काम मैंने किया है।

(२८) हे महाबाहु! जो ज्ञानी पुरुष गुण और कर्मका संबंध जानता है वह यह समझता है कि मैं खुद कोई काम नहीं करता-मेरी इन्द्रियां ही विषयोंसे व्यवसाय करती हैं। यह समझता हुआ वह विषयोंके भुलावेमें नहीं फंसता।

(२९) जो लोग प्रकृतिके नियमोंको नहीं जानते वे ही प्रपंचके कार्योंको करते हुए बेबस हो जाते हैं। ऐसे जो मूर्ख लोग है, जो सत्यका ज्ञान नहीं रखते, उन लोगोंमें जो विश्वास जमे हुए हैं उन्हें हटाना ज्ञानी पुरुषको उचित नहीं है।

(३०) मनको बहुत ऊंचा करके परब्रह्मका स्मरण कर सब काम मुझे अर्पण कर, फलकी इच्छा छोड़, अहंकारको

परित्याग करके मनसे सारे विकार हटा युद्धकी तैयारी कर।

(३१) जो मनुष्य श्रद्धा और शुद्धताके साथ मेरे इस उपदेशको सदा मानते है वे भी कर्मोंके बंधनोंसे छूटते हैं।

(३२)परंतु जो मेरी इस शिक्षामें दोष देखते हुए इसे नहीं मानते, स्मरण रक्खो, उनका चित्त ठिकाने नहीं है, उनकी बुद्धि मारी गयी है और वे बड़े भारी मूर्ख हैं।

(३३) (मनुष्यकी प्रकृति बड़ी विचित्र है) विद्वान्‌को भी उस प्रकृतिके बसमें आना पड़ता है। सभी प्राणी प्रकृतिके अधीन होते है; इंद्रियोंको लाख रोकनेसे भी क्या होगा?

(३४) प्रत्येक इन्द्रियमें राग और द्वेष होता है; एक विषय उसे पसंद आता है तो दूसरेसे उसकी घृणा होती है। इस राग द्वेषके अधीन न होना चाहिये; क्योंकि ये ही राहके कांटे है।

देशसेवारूप महायज्ञ करनेके कई मार्ग है। कोई ब्राह्मण व्रत धारण कर देश देश घूमकर लोगोंको शिक्षा देता है; कोई क्षात्रधर्मका अवलंब कर अपने भुजबलसे देशकी रक्षा करता है; कोई संसारके बाजारमें अपने देशका गौरव बढ़ानेके लिये नाना प्रकारके व्यवसायोंको बढ़ाता है; और कोई अपनी माता वसुन्धराको समृद्ध करनेकी चेष्टामें अपनी देह अर्पण कर देता है। ये सभी मार्ग और सभी धर्म अच्छे हैं-कोई किसी-से हीन नहीं। यदि किसीकी दृष्टिमें, मनके भुलावसे, एक मार्ग दूसरेसे अच्छा प्रतीत हो तो भी उसे अपना मार्ग न छोड़-ना चाहिये। इस समय अर्जुन क्षत्रियका काम कर रहा है। श्रीकृष्ण भगवान्‌के मुखसे सन्यासी महात्माओंकी प्रशंसा सुन-कर उसे यदि सन्यासी बन जानेकी इच्छा हो जाय तो क्या युद्ध

से मुड़कर उसे जंगलकी किसी खोहमें चल देना चाहिये ? कदापि नहीं।

(३५) श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अपना धर्म–अपना जीवन–हीन भी हो तो वह दूसरेके धर्म से अच्छा ही है। अपने धर्मकी रक्षा करते हुए मर जाना अच्छा है; दूसरेके धर्ममें बड़ा भय है।

निग्रह करनेपर भी–इंद्रियोंको रोकते हुए भी–प्राणीका बेबस हो जाना सुनकर अर्जुनको यह बड़ा आश्चर्य मालूम हुआ कि मनुष्य यदि इन्द्रियोंको रोकता है तो फिर उसे जबरदस्ती बुरे कर्मोंमें कौन लगाता है ? इसी सवालको अर्जुनने इस प्रकार पूछा है :

(३६) हे वार्ष्णेय ! पुरुषकी इच्छा न होनेपर भी जबरदस्ती उसे कौन पाप करनेके लिये प्रवृत्त करता है।

श्रीकृष्ण भगवान् कहते है :

(३७) पुरुषकी प्रकृतिमें जो रजोगुण है उससे इच्छा, क्रोध उत्पन्न होता है। यह इच्छा सबको खा डालती है, और इसमें बड़े बड़े दोष है। यही एक शत्रु है।

(३८) जैसे धूएसे, और धूलसे दर्पण और गर्भकी झिल्लीसे बालक ढका रहता है वैसे ही इस इच्छासे ज्ञान ढका रहता है।

(३९) यह इच्छा ज्ञानियोंकी नित्य शत्रु है। ज्ञानको यह ढांके रहती है। यह इच्छारूपी आग है जो विषयोंको पाकर धधकती ही जाती है।

(४०) इसके रहनेका ठिकाना इन्द्रिय, मन और बुद्धि है। इन्हींको लेकर यह इच्छा देह धारण किए हुए इस आत्मापर परदा डाले उसे मोहित कर लेती है।

(४१) इसलिये हे अर्जुन सबसे पहिले इन्द्रियोंको अपने वशमें लाकर ज्ञानका नाश करनेवाले इस कामको–इच्छाको–मार।

(४२) इन्द्रियां शरीरसे परे हैं; इनके परे मन है और मनके परे बुद्धि है, और बुद्धिके भी परे वह आत्मा है।

(४३) इस प्रकार हे अर्जुन ! उस आत्माको बुद्धिसे परे जानकर और मनको स्थिर करके उस प्रबल शत्रु कामको मार ।

तीसरा अध्याय समाप्त ।

चौथा अध्याय ।

तृतीय अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कर्मयोगका महत्व बता वासना छोड़ कर्म करनेकी शिक्षा दी । इस अध्याय-मे वही बात ज्ञानयोगका महत्व बताकर कही है । ज्ञानयोग और कर्मयोगको एक ही सिद्ध किया है और कर्म करनेके लिये विशेष रूपसे शिक्षा दी है । इस अध्यायका विषय कर्मसन्यास योग है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैः

(१) यह कर्मयोग—कर्म करनेका उपदेश जो तुझे मैंने अभी बतलाया है, पहिले वह विवस्वत् अर्थात् सूर्यदेवसे*कहा था । सूर्यने मनुसे कहा और मनुने इक्ष्वाकु राजाको बतलाया ।

(२) इस प्रकार होते होते यह योग राजर्षियोंने जाना । फिर कालके फेरमें पड़कर यह योग नष्ट भी हो गया था ।

(३) वही प्राचीन योग मैंने आज तुझे बताया है । तू मेरा भक्त और मित्र है; इसलिये यह रहस्य मैंने तुझपर प्रकट कर दिया ।

अर्जुनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि विवस्वत या मनुको हुए

---

* यह सूर्यवंशका मूल पुरुष हुआ ।

इतने हजार वर्ष हो गये और अभीके इन कृष्णने उन्हें यह ज्ञान कैसे बताया और क्या किया ! इसलिये वह पूछता है:

(४) तुम्हारा जन्म तो अभी हुआ है, सूर्यको हुए जमाना बीत गया। फिर मैं कैसे विश्वास कर सकता हूं कि तुमने ही उसे यह ज्ञान बतलाया ?

श्रीकृष्ण भगवान् कहते है:

(५) हे अर्जुन ! मेरे अनेक जन्म हुए हैं जिनका मुझे स्मरण है। तेरे भी अनेक जन्म हुए पर उन्हें तू नहीं जानता।

(६) मैं अजन्मा हूं–मुझमें कोई विकार या दोष नहीं है और सारी पृथिवियोंका मैं स्वामी हूं। तौभी मैं अपनी मायासे प्रकृतिके सहारे, उत्पन्न हुआ करता हूं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥

(७) हे अर्जुन ! जब जब संसारसे धर्म उठ जाता है और अधर्म तथा अधर्मियोंकी सत्ता होती है तब तब मैं मनुष्यरूप धारण करता हूं।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

(८) देशकी सेवा और संसारका उपकार करनेवालोंको बचानेके लिये और उनपर अत्याचार करनेवाले पापियोंको धूलमें मिलानेके लिये, और साथ ही सच्चे धर्मकी स्थापना करनेके लिये मैं हर युगमें—जब जब जरूरत हो तब तब—संसारमें अवतीर्ण होता हूं।

(९) जो पुरुष मेरे दिव्य जन्म और कर्मका रहस्य जान लेता है वह यह देह छोड़ देनेपर फिर मृत्युलोकमें नहीं आता-वह मुझमें ही मिल जाता है।

(१०) आजतक इस प्रकारसे कितने ही पुरुष मुझमें मिल चुके हैं। ऐसे पुरुष कर्म करते हुए फलकी इच्छा छोड़ देते हैं, भय और क्रोधको पास फटकने नहीं देते; वे मेरे ही हैं-मेरी ही शरणमें रहते हैं, ज्ञानसे उनका मल दूर हो गया है और वे मेरे ही रूप हो गये है।

(११) मेरी जो जैसी भक्ति करता है वैसी ही मैं उसे स्वीकार लेता हूं। हे पार्थ! मनुष्य चाहे जिस मार्गसे चलें सब मार्ग मेरे पास पहुंचाते हैं।

श्रीकृष्ण भगवान्‌का यह वचन है:—" मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः।" चाहे जिस मार्गसे चलिये, प्राणीमात्र को अन्तमें वहीं पहुंचना है। परमात्मा ही आत्माका अन्तिम साध्य है। प्रत्येक प्राणी अन्तमें उसी परमात्मामें मिलनेवाला है पापी हो तो क्या और पुण्यात्मा हो तो क्या, सब किसीका वही पहिला और आखिरी मुकाम है—वही हमारा घर है। यदि घर जाना है तो घर जानेकी बात भूलनेसे काम न चलेगा। जबतक हम यह बात भूलते रहेंगे, निश्चय जानिये, तबतक हम भटकते ही रहेंगे। इससे क्या मतलब हासिल होगा? जो पुण्यात्मा हैं वे सीधे और शीघ्र पहुंचेंगे और जो सच्ची राहपर नहीं हैं उन्हें पार पहुंचनेमें देर लगेगी—परेशानी होगी और पछतावा होगा। जैसे हरेक मनुष्यको मरना है पर लोग भूल जाते हैं कि हमें मरना है जिसका परिणाम यह होता है कि बहुतेरे मरनेकी तैयारी तो नहीं करते और वक्त आनेपर मर जाते हैं, कभी लड़कर मरते है और कभी मृत्यु उन्हें घसीट ले जाता है। ऐसी दशा न हो यह प्रत्येक मनुष्यकी इच्छा है, इसलिये उसको वैसी ही तैयारी करनी चाहिये। ऐसे ही जहां हमें जाना है वहाँ की तैयारी हमें करनी चाहिये। जो मनुष्य मृत्युकी तैयारी करता

है वह वहां जानेकी भी तैयारी करता है।

खैर, बहुतसे लोग इन बातोंको भूल जाते हैं और अपनी थोड़ीसी जिन्दगीको विषयोंके क्षणभरके आनन्दपर बेच देते है। और कुछ लोग ऐसे हैं जो अपने जीवनको सुखकर बनानेके लिये परिश्रम करते हैं। उनके परिश्रम शुद्ध होनेपर भी फलकी इच्छासे हुआ करते हैं। इनके संबंधमें श्रीकृष्ण भगवान् कहते है:

(१२) जो लोग अपने कर्मोंकी सिद्धि चाहते हैं वे मृत्यु-लोकके देवताओंकी पूजा करते हैं। मृत्युलोकमें कर्मकी सिद्धि बहुत शीघ्र होती है।

जो वस्तु जितनी कीमती होती है वह उतने ही अधिक परि-श्रम और देरसे मिलती है। सुवर्ण ढूंढने जाइये, तो कितने परि-श्रम करने पड़ेंगे। मिट्टीके लिये परिश्रम नहीं करने पड़ते। आफिसका मुहर्रिर यदि अपनी तनख्वाह बढ़ाना चाहे तो उसे अपने अफसरकी ही पूजा—खुशामद—करनी पड़ती है। जो मनुष्य खुशामद नापसंद करता है, अकेले परमात्माको छोड़ किसीसे नहीं डरता, और देशका कल्याण किया चाहता है उसे धन, कीर्ति, सुख, स्वास्थ्यादि सभी वस्तुओंको जलांजलि देनी पड़ती है। तात्पर्य, इसी जन्मको जन्म मानकर, भविष्यत्‌का विचार छोड़, जिसे थोड़ासा ही स्वार्थ साध लेना है उसे बहुत परिश्रमोंकी आवश्यकता नहीं। परन्तु मनुष्यकी बुद्धि केवल अपने ही लिये या इसी जन्मके लिये नहीं है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

(१३) मनुष्योंके गुणों और कर्मोंको देखकर उनके अनुसार मैंने चार वर्ण बनाये। (ब्रह्मकाज्ञान रखनेवाले

और संसारका उपकार करनेवाले पुरुषोंको ब्राह्मण बनाया; उनके उपदेश मानकर भुजबलसे उनकी और अपने देशकी, मनुष्यमात्रकी रक्षा करनेवालोंको क्षत्रिय मैंने ही बनाया और धनसे समाजकी सेवा करनेवालोंको वैश्य तथा तीनों वर्णोंको सहायता करनेवाले मनुष्योंको मैंने ही शूद्र नाम दिया।) यह सब मैंने किया; पर मुझे अकर्त्ता और अव्यय समझना।

क्योंकि मेरी शक्ति कभी खर्च नहीं होती। संसारकी घटनाओंसे मेरी शक्ति न बढ़ती है और न घटती है। मेरे सब काम ऐसे होते हैं मानो अपने आप हो रहे हैं।

(१४) कर्म मुझमें कोई हेरफेर नहीं कर सकते-किसी प्रकारका दोष नहीं डाल सकते; न ही कर्म करके उसके फलकी मुझे इच्छा होती है। मेरा यह हाल जो जानता है वह भी किसी कामसे नफा-नुकसान नहीं उठाता—उसपर कामका कोई असर नहीं पड़ता।

(१५) इस बातको अच्छी तरह समझकर इससे पहिले कितने ही पुरुषोंने मोक्षकी इच्छासे निष्काम कर्म—इच्छारहित कार्य—किये हैं। पूर्वजोंने प्राचीन समयमें जैसे कर्म किये तू भी वैसे ही कर।

(१६) बड़े बड़े पंडित लोग भी इस बातका निश्चय नहीं कर सकते कि कौन कर्म है और कौन नहीं—कौन काम करना चाहिये और कौन न करना चाहिये। इस लिये मैं तुझे यह उपदेश देता हूं जिससे तू बुरे कामोंसे बचेगा।

(१७) कर्म, अकर्म, और विकर्मको जानना आवश्यक है। (वेदमें जो कर्म बताए गये हैं वे कर्म हैं; कर्मका न होना अकर्म है और वेदके खिलाफ जो कर्म है वे विकर्म कहाते हैं।) कर्मकी गति

बड़ी विचित्र है।

(१८) जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता और अकर्ममें कर्म देखता है (अर्थात् जो कर्म और अकर्मको बराबर समझता है), मनुष्योंमें वही बुद्धिमान् है, वही योगी है और वही सब काम कर चुका है।

(१९) पंडित लोग उसीको पंडित समझते हैं जिसके सब कार्य वासना-रहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानरूप अग्निसे भस्म किये जाते हैं।

(२०) जिसने कर्मके फलोंसे अपना मन निकाल लिया है; जो स्वयं तृप्त है और स्वतंत्र है—किसीकी शरण लेनेवाला नहीं है—वह कर्म करता हुआ भी उसके असरसे अलग रहता है।

(२१) जिसने अपने इन्द्रियोंको और मनको जीत लिया है, सब इच्छाओंको त्याग अपने सब बन्धन तोड़ डाले हैं, वह केवल शरीरसे कर्म करता है और पापका भागी नहीं होता।

(२२) जो अपनी स्थितिसे संतुष्ट है अर्थात् बुरी अवस्था होनेपर जो न घबराता है और अच्छी दशा आनेपर न फूलता है—सुख दुःखमें एकसा रहता है, जो किसीसे डाह नहीं करता, काम बनने या बिगड़नेसे जिसकी तबीयतमें फर्क नहीं आता, वह कर्म करता हुआ भी उससे स्वतंत्र रहता है।

(२३) जो पुरुष संग छोड़कर, स्वतंत्रताके साथ, आत्मामें चित्त लगाकर, लोकोपकारके लिये कर्म करता है उसके सारे कर्म प्रकृतिमें मिल जाते हैं।

(२४) स्वयं ब्रह्मरूप बनकर जो पुरुष ब्रह्मको ही सामने रख, ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप आहुति देता है वह ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है।

'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।' का सच्चा ज्ञान हो जानेपर

पुरुष जो कर्म करे वही ब्रह्मकर्म है। उसका यज्ञ ब्रह्मयज्ञ ही है; उसके लिये अग्नि और हवि ब्रह्म ही है। क्योंकि संसार ही ब्रह्ममय है।

(२५) कुछ योगी लोग इन्द्रवरुणादिको संतुष्ट करनेके लिये यज्ञ करते है; परन्तु जो ज्ञानयोगी हैं वे ब्रह्मरूप अग्निमें ही यज्ञ करते हैं।

(२६) कुछ योगी संयमरूप अग्निमें कान आदि इन्द्रियोंकी आहुति देते है अर्थात् इन्द्रियोंको काबूमें लाते हैं (यह भी यज्ञ ही है)। और कुछ योगी शब्दादि विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें डालकर यज्ञ करते हैं अर्थात् प्रपंचके कार्य करते हुए, खाते, पीते भोग भोगते हुए, विषयोंके स्वादसे इन्द्रियोंको अलग रखते हैं।

(यहां पहिले प्रकारके योगियोंका ब्रह्मचारियोंसे मतलब है। और दूसरे प्रकारके योगी गृहस्थ हैं)

(२७) कुछ लोग इन्द्रियोंके सब कर्मोंका तथा प्राणकर्मोंका ज्ञानसे प्रज्वलित आत्मसंयमयोगरूपी अग्निमें यज्ञ करते है अर्थात् समाधि लगाकर आत्माका ध्यान करते हैं।

(२८) कोई द्रव्ययज्ञ करते है—अर्थात् द्रव्य दान कर उपकार करते हैं; कोई तपस्या करते हैं, कोई योग साधना करते हैं; कोई वेदोंका नित्य अध्ययन करते हैं; कोई अपना ज्ञान बढ़ाते जाते है।

(२९) कुछ लोग अपानवायुमें प्राणवायुको मिला देते हैं; कुछ लोग प्राणवायुमें अपानवायुका होम करते हैं और प्राणवायु तथा अपानवायुकी गति रोककर प्राणायाममें रत रहते हैं।

प्राणायाम भी एक यज्ञ है—एक प्रकारकी उपासना है। इसका रहस्य समझनेके लिये शरीरके अन्दर जो हवा है उसके भेदोंका ज्ञान जरूरी है। हृदयमें जो वायु है उसका नाम 'प्राण',

है; जो वायु गुदामें है वह 'अपान' कहाती है; जो वायु नाभिमें है वह 'समान' है; कंठदेशमें जो वायु है उसे 'उदान' और सारे शरीरकी वायुको 'व्यान' कहते हैं। ये पांच प्रकारकी हवाएं पांच प्राण कहाती है। इन प्राणोंका नियमन करना-इन प्राणोंको एक स्थान से दूसरे स्थानमें में ले जाना, इनका चलना बंद कर देना और सारे प्राणोंको अपने काबूमें लाना प्राणायाम कहाता है।

जिस विधिसे प्राणवायु अर्थात् छातीमें रहनेवाली हवा अपानवायुमें अर्थात् नीचेकी हवामें लायी जाती है वह विधि पूरक कहाती है; जिस विधिसे अपानवायु प्राणवायुमें लायी जाती है उस विधिका नाम रेचक है; और जिस रीतिसे प्राण अपान दोनों हवाओंको रोककर हवाका चलना बंद किया जाता है वह विधि कुंभक कहाती है। ये तीन प्रकारके प्राणायाम हुए। प्राणायाम करनेसे बुद्धि तीव्र होती है; मन प्रसन्न रहता है; रोग दूर होते है। यह वायुदेवकी उपासना है। इससे अपने अन्दर जो एक सृष्टि है उसके वायुमंडलका अधिकार मिलता है।

(३०) कुछ लोग हिसाबी खाना खाते हैं और प्राणवायुमें प्राणका ही हवन करते है। ये सब लोग यज्ञका रहस्य जानते है और यज्ञके कारण इनके पापोंका नाश हो जाता है।

(३१) यज्ञ कर चुकनेपर अर्थात् अतिथि-आगन्तुक आदि सबको सन्तुष्ट करनेके बाद जो कुछ अपने लिये बच जाय वह अमृत है। इस अमृतको पीनेवाले सनातन ब्रह्मके पास जाते हैं। हे कुरुकुलके दीपक! जो लोग किसी प्रकारका यज्ञ नहीं करते, यह संसार उनके लिये नहीं है।

यज्ञ न करनेवालोंको यह दुनियां छोड़कर चल देना चाहिये। क्योंकि संसारमें आकर यदि कुछ करना है तो यज्ञ ही करना है। वेदव्यास कहते हैः—"द्वावेवाप्तु प्रवेष्टव्यौ कण्ठ बध्वा

दृढां शिलाम् । धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥" अर्थात् दान न देनेवाले अमीर और तपस्या न करनेवाले गरीबके गले- में मजबूत पत्थर बांधकर दोनोंको गहरे पानीमें डुबो देना चाहिये; क्योंकि ये किसी कामके नहीं होते।

(३२) ब्रह्मके मुंहसे कितने ही यज्ञ निकले हुए हैं। इन सब यज्ञोंका उगम कर्म है; इस बातका ज्ञान होनेसे तेरी मुक्ति होगी।

(३३) द्रव्ययज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। क्योंकि सब कर्मोंका अन्त वही ज्ञान है।

(३४) नम्रता स्वीकार करके अर्थात् शिष्यकी तरह, गुरुकी सेवा कर, विचारपूर्वक नाना प्रकारके तर्क करते हुए वह ज्ञान प्राप्त कर। सत्यको जाननेवाले गुरु प्रसन्न होकर तुझे वह ज्ञान देंगे।

(३५) वह ज्ञान प्राप्त होनेपर फिर तुझे भ्रम न होगा-तेरे ज्ञाननेत्र खुल जायंगे। उस ज्ञानको लाभ करनेसे यह सारा संसार तुझे अपनासा-अपनेमें ही-दिखायी देगा, और मेरे ही अन्दर सारी सृष्टि दिख पड़ेगी।

आत्मा क्या है? परमात्मा कौन है? यह देह क्या है? इस पृथ्वीका आत्मा कौन है? इन प्रश्नोंका खुलासा हो जानेसे फिर संसारकी भिन्न भिन्न वस्तुएं अपनेसे भिन्न नहीं मालूम हो सकतीं। क्योंकि यह पृथ्वी जिस आत्माकी देह है उसी अन्तः रात्मा-परमात्माकी यह मनुष्यदेह भी है।

(३६) तू सब पापियोंमें भी सबसे नीच पापी क्यों न हो; उस ज्ञानकी नौकापर चढ़नेसे तू इस पापसमुद्रको पार कर जायगा।

(३७) जिस प्रकार धधकती हुई आग सारी लकड़ियोंको

जला डालती है उसी प्रकारसे वह ज्ञानरूपी अग्नि सारे पापोंको भस्म कर देती है।

(३८) इस संसारमें ज्ञानके समान और कोई पवित्र वस्तु नहीं है। योगका अभ्यास करनेसे मनुष्यको कुछ कालके अनन्तर यह ज्ञान आप ही आप प्राप्त हो जाता है।

उस ज्ञानके लिये योगका अभ्यास करना पड़ता है। मन ठिकाने रखकर इन्द्रियोंको स्वाधीन करके आत्माकी चिन्ता करनेसे आत्मज्ञान होता है।

(३९) श्रद्धा, निष्ठा और जितेन्द्रियताके साथ आत्माकी चिन्ता करनेसे वह ज्ञान प्राप्त होता है। वह ज्ञान प्राप्त होते ही वह शक्ति मिल जाती है जो सब सुखोंमें सबसे बड़ा सुख है।

(४०) परन्तु जो अज्ञ है, आत्माकी जिसे पहिचान नहीं, जिसे श्रद्धा नहीं, जिसे वेमौके सन्देह उत्पन्न हुआ करता है, उसकी बड़ी दुर्गति होती है। उसका यह लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ता है। तात्पर्य, वह सदा दुःखी रहता है।

(४१) हे धनंजय ! जिस पुरुषने मनको ऊंचे विचारोंमें लगाकर फलकी इच्छासे कर्म करना छोड़ दिया है; आत्मा, परमात्माके विषयमें ज्ञानसे जिसका सन्देह दूर हो चुका है, जो अपने आत्मामें मगन है उसको न किसी कामसे दुख होता है और न किसी कामसे सुख ही—वह न पाप करता है, न पुण्य ही।

(४२) इसलिये हे अर्जुन ! अज्ञानके कारण तुझमे जो दिलकी कमजोरी और शक्कीपन आ गया है उसे ज्ञानरूपी खड्गसे तोड़कर योगके अनुकूल बना—अर्थात् अपना कर्तव्य करनेके लिये उठ खड़ा हो।

चौथा अध्याय समाप्त।

पांचवा अध्याय ।

गताऽध्यायमें श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्जुनको ज्ञानयोगका प्रकरण बताया है। ज्ञान इस संसारमें सबसे पवित्र वस्तु है, वही अन्तिम साध्य है। सुख देनेवाली कोई वस्तु उसके बराबर नहीं क्योंकि उसीसे शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार कर्मकरने-की बात छिपाते हुए श्रीकृष्णने कर्मत्याग—ज्ञानप्राप्तिका उपदेश दिया। इसपर यह प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञानयोग ही श्रेष्ठ है तो फिर श्रीकृष्ण भगवान् कर्मयोगकी शिक्षा अन्तमें क्यों देते हैं? क्यों वे अर्जुनको शत्रुओंको धरतीपर लेटा देनेके लिये कमर कसनेकी शिक्षा दे रहे हैं? एक ओर कर्मत्याग और दूसरी ओर कर्मयोग? दोनोंका मेल कैसे हो? अर्जुनका जी घबरा गया। वह नहीं जानता कि क्या करना चाहिये? इसलिये श्रीकृष्ण भगवान्ने इस अध्यायमें अर्जुनको समझाया है कि कर्मयोग और कर्मसन्यास कोई दो पदार्थ नहीं हैं। योगीके लिये दोनों समान हैं—एक हैं। फलकी इच्छा छोड़कर कर्म करना वैसा ही है जैसा कर्म छोड़कर आत्माकी चिन्ता करना योगीको पहलेसे न कुछ लाभ है और दूसरेसे न कोई हानि। जिसने अपना स्वार्थ छोड़ दिया है उसके सारे काम परोपकार-के होते हैं—देशसेवा, समाजसेवा, संसारसेवा ये ही उनके काम हैं। जो काम उस परमात्माके हैं वे ही काम जब इस अन्तरात्माके होते हैं तब वह परमात्मा जैसे सब कुछ करते हुए भी निर्विकार है वैसे ही यह आत्मा भी निर्विकार होता है। उसके लिये करना न करना बराबर है। उसका कोई काम न करना सब कुछ करना है और कोई काम करना कुछ न करनेके बराबर है। इसी बातको इस अध्यायमें श्रीकृष्ण योगेश्वर

समझाते हैं।

पहले अर्जुनने पूछा:

(१) हे कृष्ण ! तुमने सब कर्मोंको छोड़ देनेका उपदेश दिया और तुम ही फिर युद्ध करनेके लिये कर्मयोगका ज्ञान बतलाते हो (यह कैसे आश्चर्यकी बात है !) दोनों कैसे हो सकता है? इनमें मेरे लिये जो ठीक हो वही साफ साफ कहो।

श्रीकृष्ण कहते हैं:

(२) कर्मसन्यास और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष देनेवाले हैं। फिर भी इन दोनोंमें कौन अच्छा है ? यदि यही पूछना चाहते हो तो कर्मयोगका मूल्य अधिक है।

परन्तु सन्यास क्या है? केवल गेरुए वस्त्र पहन लेनेसे कोई सन्यासी नहीं हो जाता। सन्यासीके काम सुनिये :

(३) हे आजानुबाहु अर्जुन! सच्चा सन्यासी वह पुरुष है जो न किसीपर नाराज होता है और न किसीसे स्नेह रखता है, जो सरदीसे न ठिठुरता है और न गरमीसे तड़फता है, जो कर्मके बन्धनोंसे बड़ी सुगमताके साथ स्वतन्त्र हो जाता है। वही सन्यासी है।

सच पूछिये तो

(४) सांख्य और योग, कर्म और सन्यास एक दूसरेसे पृथक् नहीं हैं। मूर्ख लोग उन्हें पृथक् कहते हैं। पंडितोंकी बुद्धिमें ऐसी बात नहीं आती। कर्म और संन्यास–दोनोंमेंसे किसी एक मार्गपर चलनेसे दोनोंकी सिद्धी होती है।

(५) सब काम धाम छोड़कर आत्माकी चिन्ता करते रहनेसे आदमी जिस स्थानपर पहुंच सकता है उस स्थानपर उद्योग करके भी मनुष्य जा सकता है। सच्ची बात तो यह है कि काम धाम छोड़कर आत्माकी चिन्ता करना और स्वार्थको जलांजलि दे

सब प्रकारके उद्योग शुद्ध अन्तः करणसे करना—दोनोंका फल एक ही है।

दोनों ही मनुष्योंको भ्रमसे छुड़ानेवाले हैं। दोनों ही मोक्ष देनेवाले हैं। दोनों ही परमात्माके पास पहुंचानेवाले हैं।

(६) परंतु बे जाने बूझे कर्मोंका त्याग कर देना सन्यास नहीं है—वह भी एक योग है—एक साधना है—उस साधनाके बिना सन्यासका होना कठिन है। इसके विपरीत जो पुरुष मनसे सब इच्छाओंको दूर करके आत्मामें चित्त लगाकर कर्म करता है उसे ब्रह्मके समीप पहुंचनेमें देर नहीं लगती।

(७) जो पुरुष योगके साथ अर्थात् मनको ठिकाने रखकर कर्म करता है, जिसके आत्माका कलंक धो गया है, जिसने अपने शरीर और इंद्रियोंको काबूमें कर लिया है और जो इस पृथ्वीके एक एक कणमें अपनी आत्माके दर्शन करता है वह कर्म करता हुआ भी कर्मके बंधनोंमें नहीं फंसता।

(८-९) जो योगी तत्वको जाननेवाला है उसको कार्य करते हुए यह न समझना चाहिये कि इस कार्यको मैं कर रहा हूं। देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, पीते, चलते, सोते, सांस लेते, बात करते, लेते देते, आंख खोलते, बंद करते हुए, उसे यह समझना चाहिये कि यह सब मैं नहीं करता बल्कि इंद्रियां अपना काम कर रही है।

(१०) सब प्रकारकी इच्छाओंको छोड़कर जो पुरुष परब्रह्मको अपने सब काम अर्पण कर देता है वह पापके कीचड़से वैसे ही ऊपर उठा रहता है जैसे पानीके ऊपर कमलका पत्र।

(११) अपने मनकी शुद्धिके लिये फलकी इच्छा छोड़कर योगी लोग अपने तन, मन, बुद्धि अथवा केवल इंद्रियोंसे ही

कर्म करते है।

(१२) योगी पुरुष फलकी आशा छोड़ कर्म करके उस शान्तिको पाते हैं जिसका अनुभव ज्ञानियोंको ही होता है। परंतु जो मनुष्य अपनी बुद्धि स्थिर नहीं कर सकता वह फल पानेके लिये ललचाता हुआ दुःखका भागी होता है।

(१३) मनसे सब कर्मोंको छोड़कर नौ फाटक वाली इस देहनगरीमें आत्मा शान्तिके साथ वास करता है।

परमात्माने मनुष्यमात्रको स्वतंत्र निर्माण किया है। मनुष्य अपना आप मालिक है। जो चाहे कर सकता है। उसपर यह लाजिम नहीं है कि वह अमुक एक काम करे या अमुक कामको न करे। हां, उसकी स्वतंत्र बुद्धि उसे रास्ता दिखा देती है।

सारी योनियोंका यही हाल है। सारी सृष्टिका यही नियम है। बीचमें परमात्माका दखल नहीं। पृथ्वीमें जो कुछ कार्य होते हैं वे अपने आप होते है।

(१४) परमात्मा मनुष्योंमें न कर्तापन उत्पन्न करता है न उनके लिये कर्मोंको ही नियत करता है, न ही वह किये कर्मका फल ही देता है। यह सब अपने आप हुआ करता है।

(१५) परमात्मा न किसीका पाप ग्रहण करता है न किसीका पुण्य स्वीकार करता है। ज्ञानपर अज्ञानका परदा पड़ा हुआ है जिससे प्राणियोंको भ्रम होता है।

यह भ्रम दूर हो सकता है। वह अज्ञानका परदा हटाया जा सकता है।

(१६) आत्माके विषयकी चिन्ता करते हुए जब उस आत्माका ज्ञान हो जाय तब उस सूर्यके समान चमकनेवाले ज्ञानके प्रकाशमें परब्रह्मके दर्शन हो जाते है।

आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है।

(१७) उस परब्रह्ममें जिनकी बुद्धि लगी हुई है, परब्रह्म ही जिनकी आत्मा है; उसीमें जिनका चित्त लगा हुआ है, उसीको जिन्होंने अपना सर्वस्व समझ लिया है और ज्ञानसे जिनके सारे पाप धो गये हैं वे मुक्त हो जाते हैं।

ऐसे ज्ञानी पुरुषके क्या लक्षण हैं ? सुनियेः

(१८) विद्वान् तथा विनयी ब्राह्मणको और गाय, बैल, हाथी, कुत्ता, चांडाल आदि नीच जातियोंको ज्ञानी लोग एकही दृष्टिसे देखते हैं—सबको समान समझते हैं।

यह समताका उपदेश क्या श्रीकृष्णने ग्रन्थमें ही लिखा रखनेके लिये दिया था ? जो लोग पंडित कहाते हैं क्या उन्हें अपने आचारमें इस उपदेशको लक्ष्य मानकर उचित हेरफेर न करना चाहिये ? बहुत दूर जानेकी जरूरत नहीं—आपके आस-पास जो लोग रहते हैं उन्हें तो अपने ही जैसे मनुष्य समझिये। आज दिन भारतवर्षमें ६ करोड़ भारतसन्तान ऐसे नीच, घृणित समझे जाते हैं कि उन्हें छूनातक बड़ा भारी पाप समझा जाता है। बिल्ली या कुत्ता उतना घृणित नहीं समझा जाता। क्या यह अन्याय नहीं है ?

याद रखिये, सारी संस्थाओंका अन्तिम उद्देश्य समताका साम्राज्य है। जिन्हें—जिस व्यक्तिको या जिस देशको—इह लोकमें सुखसे दिन काटने हैं, उन्हें समताकी ही शरण लेनी पड़ेगी; तभी उनकी भलाई है। जो ब्रह्मपदके प्यासे हैं उनके लिये भी यही उपदेश है। समता ही ब्रह्मका रूप है।

(१९) जो सबको समान भावसे देखते हैं-सबसे एकसा व्यवहार करते हैं-जिनका मन समतामें ही लगा हुआ है उन्होंने संसारमें रहते हुए ही संसार को जीत लिया है। वे ब्रह्म में

ही रहते है। क्योंकि ब्रह्म ही निर्दोष और सम है।

(२०) कोई अच्छी वस्तु पाकर न फूलना चाहिये, न किसी अशुभसे खिन्न होना चाहिये। जिसकी बुद्धि स्थिर है, जिसका मोह नष्ट हो गया है, वह ब्रह्मज्ञानी पुरुष हर समय ब्रह्मंमें ही लीन रहता है—उसके लिये सुख दुख दोनों बराबर है।

(२१) बाहरी—दिखौआ—बातोंमें जिसका मन नहीं फँसता वह अपने आत्मामें ही मगन रहता है। जिसका आत्मा ब्रह्ममें मिल गया है वह उस सुखको पाता है जिसका कभी नाश न हो।

(२२) इन्द्रियोंके स्पर्शसे जो सुख प्राप्त होते हैं वे दुःखके मूल हैं। ऐसा सुख सदा नहीं रहता—उसके पीछे पीछे दुःख लगा रहता है। यह सुख जन्म मृत्युके चरखेमें चक्कर खाया करता है। पंडित लोग उससे मोहित नहीं होते।

(२३) मृत्युसे पहिले ही जिस मनुष्यकी इतनी तैयारी हो जाती है कि वह काम और क्रोधके वेगको रोक सके—उनके अधीन न हो जाय—वही योगी है और वही सुख पाता है।

(२४) वह योगी जो अपने आत्मामें मगन रहता है, और आत्माकी ही चिन्ता करता हुआ उसीसे ज्ञान पाता है वह स्वयं-ब्रह्म होकर सब बंधनोंसे छुटकारा पाता है।

(२५) ऋषि लोग जो पापसे बचे हुए है, जो ऊंच नीच भाव नहीं रखते, और इन्द्रियोंको अपने वसमें रखते हुए संसार-की सेवा किया करते है वे मुक्त होते है।

(२६) जो साधु पुरुष काम और क्रोधको अधीन बनाकर मनपर कब्जा रखते हैं और जिन्हें ब्रह्म क्या है ? वह कैसा है? यह मालूम हो गया है उनसे ब्रह्म दूर नहीं—हर समय और हर जगह उन्हें ब्रह्मसुख मिलता है।

(२७-२८) बाहरी विषयोंको बाहर कर, चित्तको बिल्कुल

स्थिर करके दोनों भौंओंके बीचमें दृष्टि लगाकर नाकके नथूनों-में प्राणवायु और अपान वायुकी बराबर गति करनेवाले-इस प्रकार प्राणायाम करनेवाले-इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अपने काबूमें रखनेवाले और इच्छा, भय, क्रोधको वसमें कर मोक्षमें ही चित्त लगानेवाले मुनि लोग सदा मुक्त रहते हैं।

मुक्तिके लिये मनुष्यको साधना करनी पड़ती है। मुक्ति मनुष्यका ईश्वरदत्त अधिकार और संपत्ति है, और वह सदा उसके समीप रहती है। पर उससे आनन्द उठानेके लिये मनुष्यको एक प्रकारकी तपस्या करनी पड़ती है। हमारा मन बड़ा विचित्र है-वह ज्ञानरूप उस आत्माके प्रकाशपर परदा डाल देता है और बाहरी वस्तुओंकी चमदमकमें मनुष्यको फंसाता है। मनुष्य फंस जाता है-अपने आपको भूल जाता है-आत्माका उसे ध्यान नहीं रहता। यह देह ही उसे आत्मा मालूम होती है। कभी कभी तो इस देहपर जो कपड़े पहने जाते हैं उन्हीं कपड़ोंको सब कुछ समझ लिया जाता है। परन्तु यह परदा कबतक रहेगा? मनुष्य तो आखिर मनुष्य ही है, उसका मूल अधिकार स्वतंत्रता है—वह स्वयं स्वतंत्र है। बिना स्वतंत्रताके उसे कब तक कल पड़ेगी? मनुष्य इस अज्ञानकी अवस्थामें बेचैन रहता है। उसे स्वतंत्रताकी-मुक्तिकी-इच्छा होती है। पर यह मुक्ति कैसे मिले? मनुष्य अंधकारमें मुक्तिको टटोलते फिरते हैं, दैवात् उन्हें यदि वह हाथ लग जाय। कोइ सर्पकी पूजा करता है; कोइ मूर्त्तिकी पूजा करता है; कोई गिरिजाघरोंमें जा पादरीका उपदेश सुनता है; कोई कुछ करता है और कोई कुछ। परन्तु स्मरण रखिये, जो कुछ आपको चाहिये वह आपके पास है।

मुक्तिके लिये सबसे पहिले वे बंधन काट डालने हैं जिन्होंने

हमें जकड़ डाला है। मन बाहरी भुलावोंमें फंसकर हमें फंसाता है। हमारी ऐसी चेष्टा होनी चाहिये जिससे मन न फसे। जब जब बाहरी भुलाव आपको भुलाते हैं तब तब आप मनको बाहरसे खींचकर अन्दरकी तरफ लगाइये। जो चीज आपको चाहिये उसकी धुन आपको लग जानी चाहिये। इसके लिये चित्त स्थिर होना चाहिये। चित्त स्थिर करनेके बाद उसे उस वस्तुके ध्यानमें लगा दीजिये जिसके लिये आपके प्राण तलफ रहे हैं। दोनों भौओंके बीच दृष्टि लगाकर प्राणायाम करनेका उपदेश इसीलिये है।

मन, इंद्रिय, बुद्धिको काबूमें रखना और विकारोंको दबाना ही सच्चे साधु वीरका लक्षण है और यही मुक्तिका मार्ग है। बाकी सब आडम्बर हैं।

(२९) इसी प्रकार तपस्या करके जो यती मुझ यज्ञों और तपोंके भोक्ता ब्रह्माण्डके स्वामी और संसारके सुहृद्को जान लेता है उसे शान्ति प्राप्त होती है।

इस अन्तिम श्लोकमें परमात्माके विषयमें कहा गया है कि वह 'सारे यज्ञों और तपोंका भोक्ता' 'सारे ब्रह्मांडका स्वामी' और 'सारे संसारका सुहृद्' है। परमात्मा भोक्ता, स्वामी और सुहृद् है। यह कहकर परमात्माने केवल यही प्रकट कर दिया कि यज्ञ और तप करना धर्म है; संसारका उपकार और ब्रह्मांड-की सेवा करना कर्तव्य है। ऐसे तो परमात्मा निर्विकार, निर्गुण और कुछ न करनेवाला है। पर लोकसंग्रहके लिये उसे सब कुछ बनना पड़ता है। लोगोंको कार्यमें प्रवृत्त करनेके लिये उसे स्वयं कर्म करना पड़ता है।

पांचवा अध्याय समाप्त।

छठां अध्याय।

पांचवे अध्यायमें अर्जुनको श्रीकृष्णने कर्मयोग और सन्यास योगका महत्व बतलाया। यह भी कहा कि सन्याससे कर्म करना ही अच्छा है। केवल इंद्रियों द्वारा कर्म करना चाहिये; उसमें मनको फंसाना ठीक नहीं। सन्यास और कर्मयोग, दोनोंका उद्देश्य दिखलाकर यह सिद्ध किया है कि दोनो एक ही हैं। अब इस अध्यायमें श्रीकृष्ण योगेश्वर अधिक स्पष्ट रीतिसे सन्यासीके लक्षण, सन्यास, और योगाभ्यासकी रीतिका वर्णन करेंगे।

श्रीकृष्ण कहते हैं:

(१) जो पुरुष कर्मके फलकी इच्छा छोड़ कर्तव्य कर्म करता है वही सन्यासी है। अग्निहोत्र न करने अथवा हाथपर हाथ धर बैठ रहनेसे कोई सन्यासी नहीं हो जाता।

सन्यासी अग्निको स्पर्श करना धर्मविरुद्ध समझते हैं, यह एक सांप्रदायिक संस्कार मात्र है। इस संस्कारका इतना प्रभाव पड़ा हुआ है कि गेरुए बाबाके मरनेपर भी उनकी देह अग्निमें नहीं जलायी जाती। यह सन्यास नहीं है। तो सन्यास क्या है?

(२) हे अर्जुन! वेदोंने जिसे सन्यास कहा है वह योग ही है (अर्थात् इच्छा छोड़ देना और काम करना ही सन्यास है; यही योग है। इस रीतिसे, सन्यास और योग दोनो एक ही है।) जबतक इच्छा नहीं छूटती तबतक कोई सन्यासी नहीं हो सकता।

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यह मुनिवर पतंजालिका सूत्र है। मतलब यह कि योग चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है अर्थात्

चित्तमें प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये जो पांच प्रकारकी वृत्तियां हैं इनको दवाए रहनेको योग कहते हैं। जो पुरुष सन्यासी होना चाहता है—सब कर्मोंके बंधनोंसे छूटना चाहता है उसका पहिला काम इन्हीं वृत्तियोंको दबाना ही है। इसलिये योग और संन्यास एक ही हुआ। अब जो पुरुष इन वृत्तियोंको दवा चुका है उसके बंधन भी टूट गये हैं। उसे योगाभ्यासकी फिर क्या जरूरत ? इसलिये श्रीकृष्ण कहते हैं।

(३) योगरूपी पहाड़पर चढ़नेकी इच्छा करनेवाले मुनिको कर्म करना ही उचित है (क्योंकि विना कर्मयोगके उन वृत्तियों-का निरोध नहीं हो सकता) परन्तु जो पुरुष उस शिखरपर पहुंच चुका है उसके लिये शान्ति ही ठीक है।

योगके लिये आठ प्रकारकी साधनाएं करनी पड़ती है। आरंभमें अर्थात् जो पुरुष योगी बनना चाहता है उसे सबसे पहिले यम, नियम, आसन और प्राणायाम साधना चाहिये। यह साध चुकनेपर उसे पूर्णता प्राप्त करनेके लिये प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका अवलंब करना चाहिये। यही बात ऊपरके श्लोकमें कही गयी है। पहली साधना योगके पहाड़पर चढ़नेकी इच्छा करनेवालेके लिये और दूसरी साधना योगारूढ़ अर्थात् जो योगपर्वतपर चढ़ चुका है उसके लिये है।

योगारूढ़ किसे कहते हैं ?

(४) जब पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे बिलकुल हट जाता है और उसकी सब इच्छाएं छूट जाती है तब उसे योगारूढ़ कहते हैं।

योगारूढ़ मनुष्य संसारको जीत लेते है।

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ ५॥

(५) अपने आत्मिक बलसे अपने आत्माका उद्धार करो—उसे नीचे न दबाओ। आत्मा ही अपना मित्र है; और आत्मा ही अपना शत्रु है।

कोई किसीका सहायक नहीं। सब अपने आप सहायक हैं। जिसे ऊपर उठनेकी इच्छा हो वह ऊपर उठे। जिसे नीचे नरकमें सड़ना हो, वह सड़ता रहे। कोई उसे उठाने नहीं आता। यदि सहायता की जरूरत है तो वह बाहर नहीं, अन्दर ही है।

(६) जिसने अपने आपको जीत लिया है, आत्मा उसका मित्र है और जिसने अपना जय आप नहीं किया, आत्मा भी उसके साथ शत्रुता करता है।

(७) जो अपने आपको जीत लेता है उसका मन शांत रहता और उसका आत्मा सुख दुःख, सरदी गरमी, मान अपमानमे एकसा रहता है। (वह योगारूढ़ है)

(८) वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थोंके ज्ञानसे जिसका आत्मा संतुष्ट हुआ है, जो विषयके झकोरोंसे डांवांडोल होनेवाला नहीं, जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीत लिया वह सच्चा योगारूढ़ है। वही योगी है। उसके लिये सोना और पत्थर बराबर है।

(९) जो पुरुष उपकारी, मित्र, शत्रु, उदासीन, विचवई, द्वेषी और स्नेही, तथा साधु असाधुको एक दृष्टिसे देखनेवाला हो वह सच्चा योगी है।

(१०) योगीको चाहिये कि निरालेमें बैठ सदा अपने चित्तको ब्रह्म-विचारमें लगाए रहे। उसे अकेले रहना चाहिये। और उसे अपने चित्तको अर्थात् मन, शरीर और इन्द्रियोंको अधीन कर विषयोंकी इच्छा बिलकुल छोड़ देनी चाहिये। योगी अपने पास आवश्यकतासे अधिक वस्तु नहीं रखता।

अब योगीका आसन कैसा होना चाहिये? इसका वर्णन

सुनिये :

(११) स्थान बिलकुल साफ और पवित्र होना चाहिये। ऐसे स्थानमें वस्त्र, मृगचर्म, और कुशसे बना हुआ आसन होना चाहिये। यह आसन न बहुत नीचा हो न बहुत ऊंचा हो। यह आसन बैठनेपर हिलना न चाहिये। फिर—

(१२) उस पवित्र आसनपर बैठ अपने चित्त और इन्द्रियों-को जीतनेवाले योगीको चाहिये कि आत्मशुद्धिके लिये मनको एकाग्र कर योगका अभ्यास करे।

(१३) इस समय मन या शरीरमें किसी प्रकार चलविचल न होनी चाहिये। शरीर, शिर, और गर्दन सीधी और अचल रखते हुए अपनी दृष्टि नाककी नोकपर लगाए रहना चाहिये। दृष्टि इधर उधर जाने न पावे।

(१४) इस अवस्थामें वह शांत, निडर और ब्रह्मचारी पुरुष मनको शुद्ध और विकारसे शून्य करके परमात्माका ध्यान करे और ब्रह्ममें ही अपने चित्तको लगा दे।

(१५) इस प्रकार सदा आत्माकी चिन्तामें लगा हुआ और मनको अधीन रखनेवाला योगी परमात्माकी उस मोक्ष देनेवाली शांतिको प्राप्त करता है।

अब योगीके आहार विहारका हाल सुनिये :

(१६) जो लोग बेहिसाब खाना खा जाते हैं या जो लोग खाना पीना ही छोड़ देते है वे इस योगकी साधना नहीं कर सकते। उसी प्रकार जो बहुत सोते है अथवा रात बेरात जागते ही बैठते हैं वे भी योगाभ्यासके लिये निकम्मे हैं।

भारतवर्षमें आजकल ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है। योगाभ्या-सका विचार जाने दीजिये। केवल स्वास्थ्यके लिये भी लोग मित भोजन और मित शयनका नियम नहीं पालन करते।

यदि शरीर बना रखना है तो खाने पीने और सोनेमें हिसाब रखना चाहिये। मनुष्यको इतना कभी न खाना चाहिये जिससे भूख बिलकुल मिट जाय और इतना कभी न सोना चाहिये जिससे दूसरे रोज नींदकी खुशामद करते करते रात बीत जाय। मनुष्यके लिये इतना भोजन काफी है जिससे दुबारा भोजन करनेकी उसकी इच्छा बनी रहे और पेट फूल न आवे। कई अच्छे परिवारोंमें यह नियम है कि खाते समय पहिली डकार आते ही भोजन समाप्त हो जाता है। रातके समय खाकर ही उसी वक्त सोना न चाहिये। जब खाना हजम हो जाय तब सोना ठीक है। और सोना कितना चाहिये? बस ७ घंटे साधारण मनुष्यके लिये काफी हैं।

(१७) जो हिसाबसे खाता पीता और घूमता फिरता है; हिसाबसे सब काम करता है, सोना और जागना जिसका नियमके साथ है वह योगका अभ्यास करे तो उसके सारे दुःख दूर हो जायँ।

(१८) कोई पुरुष तभी योगी कहाता है जब उसका चित्त ठिकाने हो, आत्माकी चिन्तामें लग जाय और वह पुरुष सब इच्छाओंसे स्वतंत्र हो ले।

(१९) जिस योगीने अपने चित्तको स्वाधीन कर लिया है और जिसने आत्माके ही ध्यानमें चित्तको लगा दिया है वह उस दीपक के समान तेजस्वी और अटल है जो हवा लगकर हिलता न हो।

(२०) जब योगके अभ्याससे योगीका चित्त संसारसे हट जाता है और आत्माके बलसे उसे आत्माके दर्शन होते हैं तब वह आत्मामें ही मगन हो जाता है।

(२१) उस सुखतक इन्द्रियां नहीं पहुंच सकतीं; वह सुख

बुद्धिसे जाना जाता है। उस अनन्त सुखको प्राप्त करनेपर वह योगी वहां डट जाता है। फिर वहांसे नहीं हटता।

(२२) योगी उस सुखको पाकर उससे अधिक सुख और कोई नहीं समझता। वह सुख ही ऐसा है कि बड़े बड़े दुःखोंके आनेपर भी मन डांवाडोल नहीं होता।

सांसारिक सुखके साथ दुःख लगा रहता है। पर ऊपर जिस सुखका जिकर है उसके साथ दुःख नहीं।

(२३) वह दुःखसे अलग है और उसका नाम योग है। उस योगका अभ्यास श्रद्धा, उत्साह और निश्चयके साथ करना चाहिये।

बहुतसे लोग योगपर व्याख्यान सुनकर योगाभ्यासके लिये तैयार हो जाते हैं। परन्तु मन इतना मजबूत न होनेसे और अच्छा गुरु न पाकर उन्हें जल्द ही योगसे मुँह मोड़ लेना पड़ता है। इस कामके लिये एक तो गुरु चाहिये और दूसरे मन बहुत मजबूत होना चाहिये। निश्चयसे ही सब काम होते है और निश्चय न होनेसे सब काम बिगड़ते हैं।

(२४-२५) सब इच्छाओंको छोड़कर मनसे सब इन्द्रियोंको बांधकर धीरे धीरे, बुद्धिसे गोचर-अगोचर सब विषयोंसे उपराम होना चाहिये। आत्मामें मन लगा कर किसी विषयकी चिन्ता न करनी चाहिये।

पर मन बड़ा चंचल है। लगाम ज़रा ढीली होते ही वह काबूके बाहर हो जाता है। इस लिये—

(२६) जहां जहा यह चंचल मन भाग जाना चाहे वहां वहांसे इसे घसीट ला आत्माके हवाले करना चाहिये।

(२७) जिसने अपने मनकी चंचलता दूर कर दी है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, जो पवित्र पुरुष ब्रह्ममें मिल

गया है वह उत्तम सुख लाभ करता है।

(२८) आत्माकी चिन्तामें मगन रहनेवाला निष्पाप योगी बिना परिश्रम उस ब्रह्मसुखको प्राप्त करता है।

(२९) योगका अभ्यास करके जिसने अपना अन्तःकरण शुद्ध कर आत्माको कलंकसे साफ कर दिया है वह सबको एक दृष्टिसे देखता है। वह हर चीजमें आत्माका अनुभव करता है और आत्मामें सब वस्तुओंको देखता है।

(३०) जो पुरुष मुझे सर्वत्र देखता है और सब कुछ मुझमें देखता है, मुझसे वह अलग नहीं होता, न मैं उससे अगल होता हूं।

जो पुरुष 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'—का अनुभव कर लेता है वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।

(३१) जो पराया भाव छोड़कर सब पदार्थोंमें रहनेवाले मुझको पूजता है वह कर्म करता हुआ भी मुझमें ही वास करता है।

(३२) मै उस योगीको श्रेष्ठ समझता हूं जो अपने अनुभवसे सबके सुख दुःखका अनुभव करता है—सबको एक आंखसे देखता है।

वही सच्चा और श्रेष्ठ योगी है जो अपने अनुभवसे दूसरोंके सुख दुःख जाने और दुःख दूर करनेकी चेष्टा करे। दुःखका कारण योगीसे बढ़कर और अधिक कौन जान सकता है? अज्ञान ही दुःखका मूल है। इस लिये श्रेष्ठ योगियोंका कर्तव्य ज्ञानका प्रचार करना है।

अर्जुन प्रश्न करते हैं —

(३३) हे मधुसूदन!* (राग द्वेष, सुख दुःख, आदिको

* मधु नामक दैत्यको श्रीकृष्णने मारा, इसलिये उनका नाम मधुसूदन पड़ा।

तथा प्राणियोंको एक आंखसे देखनेका जो तुमने उपदेश दिया अथवा) यह जो समताका योग तुमने मुझे बतलाया, मैं मनकी चंचलताके कारण यह न समझ सका कि उसका अमल कैसे हो सकता है।

(३४) मन बड़ा ही चंचल, हठी, बलवान् और दृढ़ है। उसे रोकना मेरी समझमें वैसा ही है जैसे कोई हवाको रोके।

श्रीकृष्ण कहते हैं:—

(३५) सचमुच ही, हे अर्जुन ! मनको काबूमें लाना बहुत ही कठिन है; क्योंकि मन एक जगह नहीं रहता। परन्तु अर्जुन ! यह निश्चय है कि अभ्यास और वैराग्यसे यह बसमें लाया जा सकता है।

(३६) जो अपने मनको अपने अधीन नहीं कर सकता उसके लिये, मेरे मतसे योग बहुत ही कठिन है। परन्तु जिसने मनको बसमें कर लिया है या जो बसमें लानेकी ठीक ठीक चेष्टा कर रहा है, अभ्याससे उसको योग प्राप्त हो सकता है।

अर्जुन प्रश्न करते हैं:—

(३७) हे कृष्ण ! जो पुरुष श्रद्धालु तो है पर यत्न करनेवाला नहीं और योगसे जिसका मन नीचे गिर गया है वह योग-सिद्धिसे गिर कर किस गतिको पाता है ?

(३८) क्या ज्ञान और कर्म मार्गसे भ्रष्ट हुआ मनुष्य फटे बादलके टुकड़ेकी तरह नष्ट नहीं हो जाता ? क्योंकि, वह ब्रह्म-पथपर चलता हुआ मोहके कारण भ्रष्ट होता है और ज्ञान और कर्मसे गिर जाता है।

(३९) हे कृष्ण ! यह मेरा सन्देह है। इसे जड़से दूर करनेमें तुम समर्थ हो। और कोई पुरुष इस कार्यके योग्य नहीं मिल सकता।

श्रीकृष्ण कहते हैः—

(४०) हे पार्थ! क्या इस लोकमें और क्या दूसरेमें, उस पुरूषका कभी नाश नहीं होता। जो शास्त्रोक्त कर्म करे उसकी कभी दुर्गति नहीं होती।

(४१) वह पुण्यवान लोगोंमें सदाके लिये स्थान पाता है। और वह किसी पवित्र और धनी पारिवारमें जन्म लेता है।

यह बात केवल योगीके विषयमें सच नहीं है। कोई मनुष्य अपना काम अगर एक जन्ममें सिद्ध न कर सका तो दूसरे जन्म-में सिद्ध कर लेता है। एक जन्ममें किया अधूरा काम अधूरा ही नहीं रह जाता, दूसरे जन्ममें पूरा हो जाता है। इसी नियम-से योगमार्गसे भ्रष्ट हुआ पुरुष अपना अभ्यास पूरा करनेके लिये दूसरा जन्म किसी पवित्र कुलमें लेता है। यदि वह किसी धनीके घर जन्म न ले तो—

(४२) किसी बुद्धिमान् योगीके घर ही जन्म ग्रहण करता है। ऐसे घरमें जन्म लेनेके लिये बहुत पुण्यबल चाहिये।

बुद्धिमान् योगीके यहां जन्म पाकर वह योगभ्रष्ट पुरुष क्या करता है?

(४३) वहां उसे वह बुद्धि प्राप्त हो जाती है जो उसने पूर्व जन्ममें ही प्राप्त की थी। फिर वह अपने योगकी सिद्धिके लिये यत्न करता है।

उसकी उन्नति बहुत जल्द होती है। क्योंकि उसके कार्य-का बहुतसा अंश पहिले ही जन्म में हो चुका रहता है।

(४४) उसके मार्गमें चाहे जितनी बाधाएं क्यों न हों वह पूर्व जन्मके यत्नकी सिद्धि पाकर आगे बढ़ता है। योगका अभ्यास करते करते ही वह प्रकृतिके बंधनोंसे छूट जाता है।

(४५) योगाभ्यासका बराबर यत्न करते रहनेसे शुद्ध मन-

वाला योगी अनेक जन्मोंके यत्नोंका बल एकत्र कर मुक्त हो जाता है।

(४६) इस प्रकारका योगी देह और मनको नाना प्रकारके कष्ट देने वाले तपस्वीसे श्रेष्ठ है। यह योगी ज्ञानियोंसे भी बड़ा है। केवल कर्म करनेवालोंसे इसका अधिक सम्मान है। इसलिये, हे अर्जुन ! तू योगी बन।

यहां योगीका अर्थ स्पष्ट हो जाता है । योगी केवल तपस्वी नहीं है। पंचाग्नि जलाकर बीचमें बैठनेवाला हठयोगी योगी नहीं है, न केवल अपना शारीरिक,मानसिक और आत्मिक बल बढ़ाकर किसीके काम न आनेवाला पुरुष ही सच्चा योगी है। योगी केवल ज्ञानी नहीं है, न केवल कर्म करने वाला पुरुषही योगी है। सच्चा और परमात्माका प्यारा योगी वही है जो ज्ञानसे अपने आत्माका उद्धार करता हुआ ज्ञानका प्रचार करता है और कर्मसे शरीरको उपयोगमे लाता हुआ सत्कर्मका प्रचार करता है।

(४७) मैं उस योगीको सबसे श्रेष्ठ योगी समझता हूं जो श्रद्धाके साथ सर्वव्यापी परमात्मामें अपने चित्तको लगाकर आत्माका ध्यान करता है।

सन्यास क्या है ? सन्यासी किसे कहते हैं ? सन्यास और योग किस प्रकार एक ही है ? योगसाधना कैसी होती है ? योगाभ्यास करनेका किसको अधिकार है ? समाधि कैसी लगानी चाहिये ? आसन कैसा होना चाहिये ? खाना, पीना, सोना, जागना आदिका क्या नियम है ? कौन योगी श्रेष्ठ है ? इत्यादि प्रश्नोंका खुलासा इस अध्यायमें हो चुका है। परमात्माका ध्यान कैसे करना चाहिये, इसका खुलासा वार वार इस अध्यायमें किया गया है इस लियें इस अध्यायका नाम ध्यानयोग है।

छठा अध्याय समाप्त।

सातवां अध्याय।

श्रीकृष्ण कहते हैः—

(१) मुझे (परमात्माको) पूरी तौरसे जाननेका उपाय मैं तुझे बतलाता हूं; सुन। हे पार्थ! मन मेरी तरफ लग जाना चाहिये और मेरे आश्रयमें रह कर योगका अभ्यास करना चाहिये।

(२) मैं तुझे (आत्मा और परमात्माका) रहस्य खोलकर कहूंगा और एक एक बातको अच्छी तरह समझा दूंगा। फिर इस संसारमें जानने योग्य कोई बात न रह जायगी।

(३) सहस्रों मनुष्योंमेंसे एकाध कोई उस सिद्धिकी चेष्टा करता है और इन सिद्ध पुरुषोंसे भी एकाध ही कोई मुझे अच्छी तरहसे जाननेका यत्न करता है।

(४) मिट्टी, जल, आग, हवा, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, मेरी प्रकृतिके ये आठ भेद हैं।

(५) यह मेरी अपरा प्रकृति है। इससे भिन्न भी मेरी एक प्रकृति है जो इससे श्रेष्ठ है और जिसे परा प्रकृति कहते है। उस प्रकृतिको तू जान। वह प्रकृति जीव रूपी है। उसीके सहारे यह पृथिवी खड़ी है।

(६) इन्हीं दो प्रकृतियोंसे सृष्टि और सारे शरीर उत्पन्न होते हैं। परन्तु मैं सारे जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका कारण हूं।

(७) हे धनंजय! मुझसे भिन्न कहीं कुछ नहीं है। मुझमें ही सब कुछ है। जैसे डोरेमें मणी पोए हुए होते हैं वैसे मुझमें संसारके सारे पदार्थ पोए हुए हैं।

परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। यह सुनते सुनते हमें

इस बातका विश्वास भी हो गया है। परन्तु जबतक इस बात-का अनुभव नहीं होता तबतक सच्चा विश्वास भी नहीं हो सकता। अनुभव करनेसे फिर मिट्टीके एक एक कणमें परमात्मा-के दर्शन हो सकते हैं। परमात्मा इन आंखोंसे नहीं दिखाई देता। सूक्ष्म वस्तु देखनेके लिये अन्दरकी आंखोंसे काम लेना पड़ता है।

एक पत्थरका टुकड़ा लीजिये। यह मिट्टीका बना हुआ है। मिट्टीके न जाने कितने करोड़ कण इसमें हैं। वे सब इस पत्थरमें इकट्ठे हुए हैं। उनको इकट्ठे कर रखने वाली एक शक्ति है। उस पत्थरके टुकड़ेको फोड़िये। उसमेंसे चिनगारियां निकलती हैं। यह आग है; फोड़नेसे पहिले यह छिपी हुई थी। आंखोंसे एक पत्थरका टुकड़ा दिखाई देता है। चेष्टा करनेसे उसके अन्दरकी आग दिखाई देती है। आग उस पत्थरका सूक्ष्म रूप है। उस आगका भी एक सूक्ष्म रूप है जो दिखाई नहीं देता। प्रत्येक स्थूल रूपके अन्दर इसी तरह एक सूक्ष्म रूप रहता है। सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्मतम रूप प्रत्येक वस्तुका होता है। वह सूक्ष्मतम पदार्थ ही परमात्मा है। वही शक्ति है। वही पत्थरके एक टुकड़ेमें पृथिवीके कणोंको, हमारे इस शरीरको, और सारे संसारको एकत्र किये हुए है। परमात्मा इस प्रकारसे प्रत्येक वस्तुमें है। जल, आग, मिट्टी, सबके अन्दर परमात्मा है। परमात्मा ही मूल है। उसीसे सूक्ष्म प्रकृति उत्पन्न हुई और उसी सूक्ष्म प्रकृतिसे यह स्थूल प्रकृति-यह जड़ पृथिवी उत्पन्न हुई है।

मनुष्यके शरीर को देखिये। मूल क्या है? आत्मा। हृदय, अन्तःकरण, बुद्धि, मन ये सब उसके बाहरी रूप हैं। यह शरीर मनका स्थूल रूप है। तात्पर्य, यह जो जड़ शरीर है इसका सूक्ष्म रूप मन और मनसे बहुत अधिक सूक्ष्म आत्मा है। वह दिखाई नहीं देता। उसीके सहारे यह शरीर है।

क्या यह शरीर और क्या यह संसार, इसका आधार वही एक आत्मा है ।

श्रीकृष्ण कहते हैं:—

(८) हे कौन्तेय* ! जलोंका जो सार रस वह मैं हूं। सूरज और चन्द्रमामें जो उजाला है वह भी मैं हूं । ज्ञान रूप जो वेद हैं उनमें मैं ओंकार हूं ; आकाशका मैं ही शब्द हूं और पुरुषोंका जो पुरुषार्थ वह भी मै ही हूं ।

यह जगत् परमात्मापर ही ठहरा हुआ है। वही मूल है । वही सारे पदार्थोंका सत्व है ।

(९) पृथिवीमें जो पवित्र गंध है और अग्निमें जो चमक है; प्राणियोंमें जो जीवन है और तपस्वियोमें जो तप है , वह मैं हूं ।

परमात्मा दिखाई नहीं देता पर सत्व रूपसे वह सब जगह है ।

(१०) हे अर्जुन ! सारे संसारका मैं बीज हूं । मैं ही सनातन मूल हूं । जो बुद्धिमान् हैं उनकी बुद्धि मै हूं और जो तेजस्वी है उनका मै ही तेज हूं ।

(११) मैं बलवानोंका बल हूं। (और वह बल कैसा है?) वह बल काम और रागसे रहित है । प्राणियोंमें जो पवित्र इच्छा है वह मैं ही हूं ।

परमात्मा यदि सर्वत्र है—सब चीजोंमें है तो वह केवल शुद्ध और पवित्र क्यों ? अशुद्ध और अपवित्र क्यों नहीं ? उत्तर सुनिये ।

(१२) सत्व, रज, तम जो तीन गुण प्रकृति और प्राणियों-मे है वे मुझसे ही उत्पन्न हुए। वे मेरे ही हैं; पर मैं उनसे अलग हूं। वे गुण और वे अच्छे बुरे भाव मुझमे है-मैं उनमें नहीं हूं ।

इसको अच्छी तरह समझ लीजिये । परमात्मासे ही

---

* कुन्तिका पुत्र अर्जुन ।

सत्व, रज और तम ये तीन गुण उत्पन्न हुए। प्रकृतिके ये तीन गुण हैं और प्रकृतिका अधार परमात्मा है। परन्तु परमात्मा न तो प्रकृतिमें और न उन तीन गुणोंमें है—वह उनसे अलग है।

अर्जुनको ऐसे ही अलग हो जानेकी शिक्षा दी गई है। यह कैसे संभव है ?

मनुष्य कई प्रकारके दिखाई देते हैं। कोई शुद्ध सात्विक है, कोई इस संसारमें अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करनेके लिये क्रोध और लोभ करता है ; कोई निद्रा आलस्य और नशेखोरी में चूर हैं। परन्तु ये लोग चाहें तो क्रोध, लोभ, निद्रा, आलस्य को दूर कर सकते हैं और चाहें तो उनकी शरण ले सकते हैं। यह बात अनुभवसे सिद्ध है। इस प्रकार मनुष्य सत्वगुणी, रजोगुणी, अथवा तमोगुणी अपनी इच्छासे बन सकता है। प्रकृति-पर उसका कब्जा हो सकता है।

परमात्मा इसी प्रकार प्रकृतिका स्वामी है और श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुनको प्रकृतिका स्वामी बननेकी शिक्षा देते हैं। इसी लिये कहते हैं कि प्रकृति के सत्व, रज, तम इन गुणोंका मूल मैं हूं—मुझमें ये रहते हैं पर मैं इनमें नहीं रहता अर्थात् मैं स्वतंत्र हूं।

मनुष्यकी सबसे ऊंची और सच्ची स्वतंत्रता यही है।

अच्छा तो,

(१३) इन तीन गुणोंसे जो भाव उत्पन्न होते हैं वे इस संसारको मोह लेते हैं। इस मोहके कारण संसार मुझे (पर-मात्माको) भूल जाता है।

(१४) ईश्वरकी माया बड़ी जबरदस्त है। पर इसकी परवा न कर जो परमात्माका ध्यान करते हैं वे मायापाशमें बद्ध नहीं होते।

(१५) हे अर्जुन ! जो लोग खोटे कर्म करनेवाले हैं, और

मूर्ख, मिथ्यावादी और हिंसा करनेवाले हैं या जो लोग झूठा व्यवहार करते हैं—बेईमान, बेउसूल और अधम हैं वे मेरे पास (ईश्वरके समीप) नहीं आने पाते।

(१६) पुण्यात्मा लोग चार प्रकारसे मेरी उपासना करते हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके उपासक हैं।

किसी दुःखसे दुखी होकर जो परमात्माकी याद करते हैं उन्हें आर्त्त कहना चाहिये। परमात्मा क्या है ? ऐसा प्रश्न जिसके हृदयमें उठता है और जो परमात्माको जाननेकी चेष्टा करता है उसे जिज्ञासु कहते हैं। जो मनुष्य अपना कोई काम निकालनेके लिये परमेश्वरकी शरण लेता है वह अर्थार्थी कहाता है। परम तत्वको जाननेवाला ज्ञानी समझना चाहिये।

(१७) इन चार उपासकोंमें ज्ञानी श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे एक परमात्माकी ही उपासना करते हैं। ज्ञानियोंको मैं बहुत ही प्रिय हूं और मैं भी उन ज्ञानियोंपर बड़ा प्यार करता हूं।

(१८) कई जन्मोंके उपरान्त ज्ञानी मेरे समीप आता है। यह सारा जगत् एक ईश्वरमय है ऐसा कहनेवाला महात्मा कोई विरला ही होता है।

(१९) ये चारों प्रकारके उपासक बहुत अच्छे और बड़ी छाती वाले हैं पर ज्ञानी मुझे अपनासा मालूम होता है ; क्योंकि वह अपने चित्तको मेरी तरफ ही लगाता और सब प्रकारसे पवित्र हो सबसे पवित्र स्वतंत्रताकी इच्छा करता है।

(२०) नाना प्रकारकी इच्छाओंसे जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है वे दूसरे दूसरे देवताओंकी शरण लेते हैं। (इस प्रकार) उनके जीवनके नियम भी बदल जाते हैं और वे अपनी प्रकृतिके दास बनते हैं।

जैसा जीवन व्यतीत कीजिये वैसे ही आपके विचार होंगे; वैसा ही आपका चरित्रबल होगा।

(२१) जो मनुष्य जिस देवताकी श्रद्धाके साथ पूजा करता है; मै उस मनुष्यकी श्रद्धा उसी देवतामें पक्की बना देता हूं।

(२२) उसी श्रद्धाके साथ वह अपने देवताकी पूजा करता है और वैसा ही फल पाता है जैसा कि मैने विधान कर दिया है।

(२३) उन थोथी बुद्धि वालोंको जो सिद्धी प्राप्त होती है वह शीघ्र नष्ट भी हो जाती है। जो देवताओंको भजते है वे देवताओंके ही पास जाते है और जो मेरी उपासना करते है वे मेरे पास आते है।

(२४) बुद्धिहीन लोग मुझ निराकारको साकार मान लेते हैं। वे मेरे अनुत्तम (जिससे कोई उत्तम नहीं ऐसे), अव्यय और परम भावको नहीं जानते।

(२५) इस विशाल प्रकृतिरूप वस्त्रको धारण कर लेनेसे मैं सबको नहीं दिखायी देता। यह अज्ञ संसार मुझ अजन्मा और अव्यय ब्रह्मको नहीं जानता।

(२६) हे अर्जुन ! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान सृष्टिको जानता हूं, पर मुझे कोई नहीं जानता।

(२७) शरीर धारण कर लेनेपर इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न होनेवाले काम क्रोधके मोहसे सारे प्राणी मोहित हो जाते हैं।

(२८) जिन पुण्यातमाओंका पाप नष्ट हो चुका है वे काम क्रोधादि मोहसे स्वतंत्र होते हुए मेरी सेवा करते हैं। वे दृढ़ व्रती लोग हैं।

(२९) बुढ़ापे और मृत्युसे मोक्ष पानेके लिये जो मेरे

आश्रयमें रहकर चेष्टा करते हैं वे ब्रह्म, ब्रह्मविद्या, और कर्मका रहस्य जानते हैं।

(३०) जो मनुष्य मुझे मृत्युके समय भी अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ जानते हैं वे ज्ञानी और युक्त चित्तवाले होते हैं।

अधिभूत शब्दके अर्थ प्रकृतिके हैं; अधिदैवसे परमात्माका मतलब है; और अधियज्ञका (यज्ञे अधीति अधियज्ञं=यज्ञमें जो मुख्य हो उसको अधियज्ञ कहते हैं; इस लिये) ब्रह्मसे तात्पर्य है। इसके बादके अध्यायमें अर्जुनने इन शब्दोंके अर्थ पूछे हैं; वहां इनका और खुलासा हो जायगा।

यहां इस श्लोकसे यह भाव निकलता है: जो इस सारी पृथ्वीको परमात्माका शरीर मानता है, और इस प्रकृतिका जो अन्तरात्मा है उसका ज्ञान रखता है, और अपने सारे कर्म उसी अव्यक्त, सर्व शक्तिमान् ब्रह्मको अर्पण करता है वही ज्ञानी है; और वही योगी है।

सातवां अध्याय समाप्त।

आठवां अध्याय।

सातवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन किया और ज्ञानीको सबसे श्रेष्ठ भक्त सिद्ध किया क्योंकि वह अक्षर ब्रह्मका ज्ञाता है। वह अक्षर ब्रह्म क्या है? इसका खुलासा इस अध्यायमें होगा। इस लिये इस अध्यायका नाम अक्षर ब्रह्म योग है।

अर्जुनने प्रश्न किया—

(१) वह ब्रह्म क्या है? हे पुरुषोत्तम! वह अध्यात्म क्या

क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत और अधिदैव किसको कहते हैं ?

(२) अधियज्ञ कौन है और इस देहमें वह कैसे रहता है ? जीवन यात्रा समाप्त करनेके समय तुम्हें युक्त चित्तवाले लोग कैसे जानते है ?

श्रीकृष्ण कहते हैं :—

(३) जो कभी नष्ट नहीं होता और जो सबसे ऊंचा है वही ब्रह्म है। उसका जो स्वभाव है उसको अध्यात्म कहते हैं और जिस विसर्ग अथवा दानसे प्राणी उत्पन्न होते और बढ़ते है उसकी कर्म संज्ञा है।

(४) मेरी प्रकृति जो नष्ट होनेवाली है वह अधिभूत है। उस प्रकृतिरूप देहके अन्दर जो पुरुष है वह अधिदैव है। हे नरश्रेष्ठ ! मै इस देहमें अधियज्ञ हूं।

अधियज्ञका अर्थ ज्ञानमय ब्रह्मसे है।

(५) अन्तकालमें मेरा स्मरण करता हुआ जो पुरुष देह त्याग करता है वह निःसन्देह मेरे भावसे परिचित हो जाता है।

(६) जो मनुष्य जिस भावको लेकर अन्तमें शरीर छोड़ता है वह उस भावमें मगन होता है और उसी भावका उसपर संस्कार जम जाता है।

(७) इस लिये सदा ही मेरा ध्यान करता हुआ युद्ध कर। अपने मन और बुद्धिको मुझे अर्पण कर देनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा; इसमें सन्देह नहीं।

(८) अभ्यास रूपी योगसे युक्त होकर स्वाधीन चित्तके साथ जो चिन्तन करता है वह दिव्य परमात्माको पा लेता है।

(९) उस ब्रह्मका जो सूर्य देवके समान स्वयं प्रकाशमान् है, जहां अंधकारका नामो निशान भी नहीं ; जो सबको धारण किये हुए है, जिसके रूपकी कोई कल्पना नहीं ; जो छोटे छोटे अणु

ओंसे भी सूक्ष्म है ; जो सब जाननेवाला और सबसे प्राचीन है; और जो सबका शासन करनेवाला है—उसका जो ध्यान करता है वह परम स्वरूपको प्राप्त होता है।

(१०) देह विसर्जन करनेके समय अचल मनसे, भक्ति-पूर्वक, योगसे चित्तकी वृत्तियोंका दमन करता हुआ भले प्रकार आज्ञाचक्रमें प्राणोंको स्थिर करके जो मनुष्य उस ब्रह्मरूप-का ध्यान करता है वह उस दिव्य परम पुरुषको पाता है।

(११) जिस अक्षरको वेदके जाननेवाले कथन करते हैं ; विरक्त पुरुष जिसके लिये यत्न करते हैं और जिसे पानेकी इच्छासे ब्रह्मचर्य पालन किया जाता है उस अक्षर पदका तेरे लिये संक्षेपसे मैं यहां वर्णन करता हूं।

(१२-१३) इन्द्रियोंको अपने वशमें करके मनको हृदयमें लगाकर जो योगकी साधना करता हुआ प्राणको शिरमें चढ़ाता है और ब्रह्मवाची ॐका उच्चारण करता हुआ मेरे ध्यानमें लीन हो देहको छोड़ देता है वह परमगतिको प्राप्त होता है।

(१४) हे पार्थ ! जिनका योग कभी नहीं डगमगाता अर्थात जो स्थिर बुद्धिवाले योगी हैं और जो अनन्यचित्त होकर सदा मेरा स्मरण करते हैं वे सुगमतासे ईश्वरके पास पहुंचते हैं।

(१५) वे महात्मा है ; उन्होंने वह वस्तु पाली है जिससे बढ़कर संसारमें कुछ भी नहीं है ; उन्हें वार वार जन्म नहीं लेना पड़ता; क्योंकि पुनर्जन्म क्षणिक और दुःखोंका घर है।

(१६) ब्रह्मलोकसे लेकर सभी पुनर्जन्मवाले हैं ; परन्तु हे अर्जुन ! जो मेरे पास आते है उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

(१७) हमारे एक हजार युग जब बीत जाते है तब ब्रह्मका एक दिन होता है; और एक ही हजार युगकी उसकी रात होती है। यह ज्ञान जिसको है वही दिन और रात क्या है;

इसको समझते हैं।

तात्पर्य यह है कि यह सृष्टि एक दिन—ब्रह्मदिन रहती है और रातभर प्रलय रहता है। ऊपर बतला दिया है कि एक ब्रह्म दिन १००० युगका होता है। सृष्टिके कालके ४ विभाग है। इन चार विभागोंको चार युग कहते हैं जिनके नाम सबको विदित हैं अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। ये चारों युग जब हजार बार बीत जाते हैं तब ब्रह्माका एक दिन होता है। इसके बाद रात होती है। रात बीतनेपर फिर दिन होता है। इस हिसाबसे ही

(१८) जब ब्रह्माके दिनकी पौ फटती है तब सारी सृष्टि उत्पन्न होती है और रात आनेपर वही सृष्टि ब्रह्मामें मिल जाती है।

(१९) ये सृष्टिके सारे पदार्थ इस प्रकार बार बार उत्पन्न होते हैं और रात होनेपर सबका प्रलय हो जाता है। फिर सबेरे बिना अपनी इच्छाके यह सृष्टि उत्पन्न होती है।

(२०) इस सूक्ष्म प्रकृतिके परे वह सनातन परमात्मा है जो सब भूतोंके नाश होनेपर भी बना रहता है।

(२१) यह जो अव्यक्त अक्षर कथन किया गया है उसको परं गति कहते हैं जिसको पाकर लौटनेकी इच्छा नहीं होती। वही मेरा आश्रम है।

(२२) वह परं पुरुष है। अनन्य भक्तिसे ही उसकी प्राप्ति होती है। उसके अन्दर ही सब प्राणी वर्तमान हैं और उसीने इस ब्रह्मांडको फैलाया है।

(२३) हे भरतश्रेष्ठ! अब तुझे मैं वह समय बतलाता हूं जब देह त्यागकर योगी लोग ब्रह्मलोक पहुंचते है अथवा पुनः मृत्युलोकमें आते हैं।

(२४) उत्तरायणके छः महीनोंमें शुक्लपक्षके किसी पवित्र दिनको अग्निके समान तेजस्वी होकर जो ब्रह्मके जाननेवाले देह त्याग करते है वे ब्रह्मको प्राप्त होते है।

(२५) दक्षिणायनके छः महीनोंमें कृष्णपक्षके किसी काल रात्रिको देह त्याग करनेवाला चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त करता है और वहांसे लौट आता है।

(२६) सचमुच ही दो ही मार्ग सनातन हैं; एक शुक्ल और दूसरा कृष्ण। पाहिले मार्गसे जानेवाला उस मुक्तिको पाता है जहांसे लौटनेकी इच्छा नहीं होती और दूसरे मार्गसे जानेवाला लौटा आता है—पुनः जन्म लेता है।

(२७) इन दोनों मार्गोंको जानता हुआ कोई योगी मोहको प्राप्त नहीं होता; इसलिये हे अर्जुन! तू योगी बन।

(२८) वेदोंमें, यज्ञोंमें, तपोंमें और दानोंमें जो पुण्यफल हैं, पूर्ण योगीके लिये वे तुच्छ हैं; क्योंकि वह सबसे ऊचे स्थानपर पहुंचता है जो स्थान आदि आश्रम है।

वेदोंका महत्व कम नहीं है, यज्ञोंका महत्व भी कम नहीं है; तप और दानकी बड़ी महिमा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इन सबका अन्तिम उद्देश्य उसी अक्षर ब्रह्मकी प्राप्ति है। यदि उस अक्षर ब्रह्मकी प्राप्ति विना वेद, यज्ञ, तप और दानके हो जाती हो तो इनकी जरूरत नहीं। पर सभी किसीके पास श्रीकृष्ण भगवान् आकर अपने मुखसे वह ज्ञान न बतला देंगे। इसलिये क्रम क्रमसे अपनी और अपने समाजकी उन्नतिके लिये वेदोंका अध्ययन, यज्ञोंका संपादन, तपोंका साधन और पात्रापात्रका विचार कर दानका अभ्यास परं आवश्यक है।

आठवां अध्याय समाप्त।

नवां अध्याय।

आठवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने बतलाया कि शुद्ध भक्तिसे ही परमेश्वरकी प्राप्ति होती है। अब इस अध्यायमें सारी विद्याओंमें जो श्रेष्ठ विद्या है जिससे ब्रह्मका ज्ञान होता है तथा सब भक्तियोंमे जो श्रेष्ठ भक्ति है जिससे मनुष्यपर परमात्मा प्रसन्न होता है उस ज्ञान और भक्तिका वर्णन किया जायगा।

श्रीकृष्ण कहते है :

(१) हे अर्जुन! तेरा निष्पाप-हृदय देख मैं तुझे वह गूढ़ बात बतलाता हूं जिससे तेरा दुःख चला जायगा।

(२) यह राजविद्या है—सब विद्याओंमें श्रेष्ठ विद्या है, और संसारमें जितनी रहस्यमय बातें हैं उनमें सबसे अधिक गूढ़ बात यही है; यह सबसे उत्तम और पवित्र है; इसकी सचाईका प्रमाण अनुभव है, यह धर्म ही है; सुगमतासे करने-योग्य और सदा बना रहनेवाला यही धर्म है।

(३) इस धर्मपर जो लोग श्रद्धा नहीं करते वे मुझसे दूर रहते हैं और जन्म मृत्युके चरखेके साथ भटकते रहते है।

(४) निराकार रूपसे मैं इस जगत्को फैलाए हूं। सारे प्राणी मुझमे ही वास करते हैं। पर मै उनके अन्दर नहीं हूं। (मेरे सहारे सारा संसार है पर मैं उसके सहारे नहीं हूं।)

(५*) मुझमे सब संसार नहीं है (मैं निःसंग हूं) मेरा

---

* चौथे श्लोकमें कहा है कि सारे प्राणी मुझमें वास करते हैं। पांचवे श्लोकमें इसका शाब्दिक खडन है। अर्थमें कोई विरोध नहीं आता। वास्तवमें सब प्राणी और सारा जगत् परमात्माके सहारे है। पांचवे श्लोकमें जो खडन है उसका अर्थ इतना ही है कि मैं जीवके-समान देह धारण कर देहबुद्धिसे फंस नहीं जाता; मैं स्वतंत्र रहता हूं। जीवको जैसे अहंकार होता है वैसा

ईश्वरीय योग देखो। मैं भूतोंका धारण और पालन करनेवाला हूं पर उनमें रहनेवाला नहीं।

परमात्मा किस प्रकार संसाररूप देहको धारण करके भी उससे स्वतंत्र है? जिस प्रकार वायुका आधार आकाश है और आकाश उस वायुसे स्वतंत्र है।

(६) जिस प्रकार (निराकार) आकाशमें वायुमंडल स्थिर है उसी प्रकार समझ लो कि सारा पृथिवीमंडल मुझमें स्थिर है।

जैसे आकाशसे वायुमंडलका संबन्ध है वैसे ही निराकार परमत्मासे पृथिवीमंडलका संबंध है। आकाश वायुमंडलसे स्वतंत्र है वैसे ही परमात्मा पृथिवीमंडलसे स्वतंत्र है। जैसे आकाश न हो तो वायुको रहनेका स्थान न मिले वैसे ही परमात्मा न हो तो पृथिवीका रहना असंभव है। इस प्रकार परमात्मा और पृथिवीका संबंध है और नहीं भी।

परन्तु परमात्मा ही पृथिवीके कर्ता धर्ता हैं।

(७) प्रलय कालमें सारा जगत् मेरी प्रकृतिमें मिल जाता है। पुन सृष्टि रचनाके समय मैं उसे उत्पन्न करता हूं।

(८) मै अपनी प्रकृतिके सहारे अविद्यारूपी बेड़ियोंसे जकड़े हुए प्राणियोंको बारंबार उत्पन्न करता हूं।

(९) मैं जो ये कर्म करता हूं उनके बन्धनोंमें मैं नहीं फंसता क्योंकि मै सुख दुखसे उदासीन रहता हूं।

(१०) मै देखता रहता हूं और प्रकृति सारे जगत् और

परमात्माको नहीं हो सकता: क्योंकि एक ही परमात्मा है और वही सब कुछ है। वहां भेदभाव या अहंकार कैसे उत्पन्न हो सकता है? और संसार परमात्मामें है और नहीं भी, इस बातको समझानेके लिये आकाश और वायुका जो दृष्टान्त छठे श्लोकमें दिया है वह ध्यान देने योग्य है।

प्राणियोंको उत्पन्न करती है। इसी कारणसे वारंवार सृष्टि रचना होती है।

(११) मूर्ख लोग मेरे परं भावको न जानकर और मेरे इस मनुष्य शरीरको देखकर मुझे नहीं पहिचानते।

(१२) ये वे लोग हैं जिनका चित्त ठिकाने नहीं है; जो राक्षस और दैत्यकी धोखा देनेवाली प्रकृति रखते हैं; जिन्हें कोई ज्ञान नहीं; जिनके आचार विचारमें कोई अर्थ नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जड़ नेत्रोंसे जड़ सृष्टि ही देखनेवाले जड़-बुद्धि मनुष्य परमात्माकी जड़ सृष्टिके अन्दर अथवा शरीरके भीतर फैली हुई चेतन शक्तिको भूल जाते हैं। उनके ज्ञाननेत्र खुले नहीं हैं।

(१३) परन्तु जो महात्मा दैवी प्रकृति रखते हैं वे सृष्टिके आदितत्व परमात्माकी अनन्य भावसे भक्ति करते हैं।

भक्ति कई प्रकारसे प्रकट होती है। कोइ एक विशेष (खास) मार्ग नहीं है। जैसे:

(१४) कोई सदा स्तोत्र अथवा भजन गाकर अपनी भक्ति प्रकट करते हैं; कोई दृढ़ निश्चयके साथ लोकनाथकी सेवा करते हैं; कोई भक्ति पूर्वक नमस्कार करते हैं; कोई एकाग्रचित्त होकर ध्यान करते है।

(१५) कोई ज्ञानयज्ञसे मेरी उपासना करते हैं; कोई जीवात्मा और शिवात्मामें भेद न मानकर और कोई परमात्माको अपना स्वामी मानकर अथवा उसके नाना रूपोंका और गुणोंका वर्णन कर उसकी उपासना करते हैं।

(१६) मैं ही वेदों और शास्त्रोंमें कथन किया हुआ यज्ञ हूं।

* यह ससार ब्रह्ममय है इस प्रकार भावना करके जो कर्म किये जाते है उनको ज्ञानयज्ञ कहते हैं।

मैं ही पितृ यज्ञ हूं; मैं ही औषधि हूं, मैं ही मंत्र हूं; मैं ही अग्नि हूं; और मैं ही होम हूं।

तात्पर्य, जगत् ब्रह्ममय है।

(१७) इस संसारका मैं पिता हूं, मैं ही माता, धाता और पितामह हूं। मै ही वह ओंकार हूं जिसका ज्ञान होना आवश्यक है; और मैं ही ऋक्, साम और यजुर्वेद हूं।

(१८) मै इस जगत्की गति हूं, मैं ही इसकी रक्षा करता हूं; मेरा ही अमल यहां जारी है; मैं ही न्याय अन्यायको देख रहा हूं; मै ही इसका सहारा हूं, मै ही सबके शरण आनेका स्थान हूं; मै ही सबका मित्र हूं; मैं सबको उत्पन्न करता हूं, और मैं ही संहार करता हूं; मै ही अधार, मै ही संहार और मै ही वीज हूं।

(१९) मैं ही (सूर्यके रूपमें) संसारको तपाता हूं; और मैं ही (जलरूपमें) आकाशसे वरसता हूं; और मै ही पानी सोख लेता हूं। मै ही अमृत, मैं ही मृत्यु और मैं ही जड़ और चेतन हूं।

(२०) तीनों विद्याओंके जानने वाले, यज्ञमें सोमरसको पान करने वाले और पापोंसे वचे हुए पवित्र मनुष्य यज्ञसे मेरा पूजन कर सुखकी याचना करते हैं। वे पुण्यात्मा हो कर दिव्य लोकमें देवताओंके समान सुखी हो रहते हैं।

(२१) देवताओंके साथ खूब सुख भोग करनेके पश्चात् अपने पुण्यवलको खर्च कर डाल कर वे फिर मृत्युलोकमें जाते हैं। इन तीनों धर्मोंके पालन करनेवाले अपनी इच्छा पूरी करके जन्म जन्मान्तरके भागी होते हैं।

(२२) जो लोग केवल मेरी, और किसीकी नहीं, भक्ति

* तीनों विद्या अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान।

करते हैं उन स्थिर उपासकों की कुशल-क्षेमके लिये मैं जिम्मेदार हूं।

(२३) जो लोग एक ईश्वर छोड़ श्रद्धाके साथ औरोंको भजते हैं वे भी एक प्रकारसे मेरी ही उपासना करते हैं यद्यपि वह प्रकार ठीक नहीं है।

(२४) मै ही सारी उपासनाओं और यज्ञोंका भोग करने वाला हूं पर मेरे सच्चे भावको न जानकर लोग भूल करते है।

(२५) जो देवताओंके व्रती हैं वे देवताओंके पास, जो पितरोंके उपासक हैं वे पितरोंके पास, जो प्रकृतिके भक्त हैं वे प्रकृतिके पास, और जो मेरे प्रेमी है वे मेरे पास आ जाते हैं।

(२६) जो कोई पत्र, फल, फूल, या जल भी भक्तिके साथ अर्पण करता है उसका वह भक्ति-उपहार मैं प्रसन्नतासे स्वीकार करता हूं।

यह भक्तिकी महिमा है। चाहे जितनी तुच्छ वस्तु हो, भक्तिसे उसकी तुच्छता जाती रहती है और वह वस्तु परमात्माको भेंट देने योग्य होती है।

इस लिये श्रीकृष्णका उपदेश है:

(२७) जो कुछ तुम करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ दान करो, जो कुछ तप करो, सब मुझे अर्पण कर दो।

(२८) शुभ अशुभके सुख दुखसे तुम्हारा छुटकारा होगा। इस प्रकार सन्यास योगसे युक्त हो तुम मुझे पा सकोगे।

(२९) मैं सबको एक आंखसे देखता हूं। न मेरा कोई शत्रु है न कोई मित्र; न कोई वस्तु प्यारी है और न कोई वस्तु नापसंद है। जो भक्तिसे मुझे भजते हैं वे मेरे हैं और मैं उनका हूं।

(३०) महादुराचारी मनुष्य (अपने दुराचारोंपर पछताकर)

भक्तिसे केवल मेरी शरण ले तो, चूंकि उसका चित्त ठिकाने हो गया है, वह साधुके समान माननीय है।

दुराचारी मनुष्य जिस घड़ी अपने दुराचारपर पछतावा कर अपने कुकर्ममय जीवनको सत्कर्ममें लगा देगा उसी घड़ी उसका दुराचारी जीवन समाप्त हो वह साधु हो जायगा। साधुके समान ही उच्च पदका वह भी अधिकारी होगा। परन्तु साधु बननेका दृढ़ निश्चय होना चाहिये। फिर—

(३१) वह बहुत जल्द धर्मात्मा हो जाता है और उस शान्तिको प्राप्त करता है जिसका कभी अन्त नहीं होता।

(३२) हे पार्थ! जो मेरी शरण लेते हैं वे कैसे ही नीच कुलमें उत्पन्न क्यों न हुए हों; चाहे वे स्त्री जातिके हों चाहे शूद्र या वैश्य जातिके, वे अति उच्च दशाको प्राप्त करते हैं।

इस श्लोकको पढ़कर कोई यह न समझ ले कि स्त्रियां या शूद्र नीच है अथवा उनमेंसे बिरले ही कोई मुक्ति वा उच्च दशा पानेका अधिकारी हो सकता है। जिनकी यह धारणा है वे बहुत भूलते है। जिन लोगों ने स्त्री और शूद्रको जन्मसे ही पापी माना है उनकी आंखोंपर अपारदर्शी परदा पड़ा हुआ है जिससे वे नहीं देख सकते कि अज्ञात कुलगोत्र जाबालको ब्रह्मविद्या पढ़ायी गयी थी और स्त्री जातिको गार्गी, मैत्रेयी, कात्यायनी आदि रमणी रत्नोंने सदाके लिये गौरवान्वित कर रखा है। जिस जातिमें आराध्य देवी सरस्वती उत्पन्न हुई और जहां हमारी माताएं उत्पन्न होती हैं उस जातिको नीच जाति हम नहीं कह सकते।

यह निःसन्देह सत्य है कि पुरुषोंमें जितना शिक्षा-प्रचार था उतना स्त्रियोंमें नहीं था, उसी प्रकार वैश्य और शूद्रका कर्म करनेवालोंमें ज्ञानकी ज्योति उतने प्रखर रूपसे प्रज्वलित नहीं हो सकती जितनी ब्रह्मविद्या और शस्त्र विद्याका अध्ययन

करनेवालोंमें हो सकती है। इसी लिये कहा है कि शूद्र और वैश्यका कर्म करनेवाले भी (यद्यपि उन्हें उतना ज्ञान नहीं) भक्ति और कर्तव्य पालनके कारण परमात्माके समीप पहुंचते है ।

(३३) फिर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके विषयमें कहना ही क्या है ! वे इस क्षय होनेवाले संसारको पाकर मेरी आराधना करते हैं।

परमात्माकी इस प्रकार शरण लेनेवालोंके लिये यही क्षय होने वाला संसार अक्षय स्वर्ग बन जाता है । परन्तु जो लोग परमात्माकी आज्ञाका भंग करते है और अपना कर्तव्य पालन नहीं करते वे स्वर्गको भी नरक बना देते हैं। यह लोक–जहां आप और हम रहते हैं—क्यों निःसार कहा जाता है ? केवल हम ही लोगोंने इसे ऐसा बनाया है। हम ही इसको स्वर्ग बना सकते हैं। सोचिये ।

(३४) अपने मनको मेरी तरफ लगाओ; मेरी ही भक्ति करो, मुझे ही दंडवत् करो। इस प्रकार युक्त हो कर मेरे प्रति भक्ति करके ही मुझे प्राप्त करोगे।

एक परमात्मा छोड़ दूसरा कोई सहायक नहीं है। वही एक मनुष्यकी भक्तिका पात्र है। उसीके कारण सबका उद्धार हुआ। वही हमारा और हमारे देशका उद्धार करेगा।

नवां अध्याय समाप्त ।

दशवां अध्याय ।

अब 'विभूति–योग' का वर्णन आरंभ होता है। इसके पहले अध्यायमें एक परमेश्वरकी भक्तिकी महिमा गायी गयी । उसीका शेष अंश इस अध्यायमें कहा जायगा और फिर

किस वस्तुमें किस रूपसे परमात्मा वास करते हैं इसका वर्णन होगा।

श्रीकृष्ण कहते हैं:—

(१) हे प्रबलभुज अर्जुन, मेरे वचनको पुनः सुन। तू प्रीतिसे सुनता है इसलिये तेरे हितकी इच्छासे मैं कहता हूं।

(२) मेरे उद्गमको न देवता जानते हैं और न ऋषि ही, क्योंकि उन देवताओं और ऋषियोंकी मेरेसे ही उत्पत्ति है।

(३) जो मुझे अजन्मा, सृष्टिका मूल, सब लोकोंका ईश्वर, मोहपाशसे स्वतंत्र मानता है वह इस लोकमें सब पापोंसे मुक्त होता है।

(४-५) बुद्धि, ज्ञान, विवेक, क्षमा, सत्य, इन्द्रियदमन, शान्ति, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय और रक्षा, अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, नामवरी, बदनामी इत्यादि जीते जागते मनुष्योंके जो भाव हैं वे मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं।

(६) सातों महर्षि, उनसे पहिले जो चार प्राचीन महर्षि हो गये वे, और सब मनु मेरे ही भाव और मनसे उत्पन्न हुए और उन्हींकी सन्तती वर्तमान प्रजा है।

(७) मेरी इन विभूतियों और योगको जो जानता है वह मेरा दृढ़ भक्त बनता है; इसमें कोई सन्देह नहीं।

(८) मैं सबकी उत्पत्तिका मूल हूं, मुझसे ही सब कुछ

---

(१) उक्त सात महर्षि अर्थात् भृगु, मरीचि, अत्री, पुलस्त्य, पलाश, क्रतु और वसिष्ठ अमैथुनी सृष्टिसे उत्पन्न हुए मानस पुत्र कहे जाते हैं।

(२) इनसे पहिले सनक, सनन्दन, सनातन्द और सनत्कुमार ब्रह्माकी इच्छा मात्रसे पैदा हुए। इन्हींको चार कुमार कहते हैं।

(३) मनुष्य जातिके आदि पुरुष, शासक और शिक्षक, १४ मनु हुए। महर्षि, कुमार और मनुसे आगे प्रजा बढ़ती गयी।

फलता फूलता है; यह जानकर पंडित लोग पूर्ण भक्तिके साथ मेरी पूजा करते हैं।

(९) मनको मेरी तरफ लगाते हुए अपने प्राणोंको मुझपर न्योछावर कर, जानकार लोग परस्परको शिक्षा देते हैं, मेरी चर्चा करते और सुख और संतोषसे रहते हैं।

(१०) जो लोग भक्तिके साथ मेरा पूजन करते है उन्हें मैं वह बुद्धि देता हूं जिसके उपयोगसे वे मेरे पास आ जाते हैं।

(११) और उनके हृदयोंमें रहते हुए मै उनपर पड़े हुए अज्ञान रूपी अंधकारको ज्ञान रूपी चमकते हुए दीपकसे भगा देता हूं।

अर्जुनने कहा:—

(१२–१३) तुम परब्रह्म हो, तुम ही परं धाम हो, तुम सबसे पवित्र हो। सब ऋषियोंके साथ देवर्षि नारद, और असित, देवल तथा व्यास भी तुमको चिरकाल रहनेवाला दिव्य, पुरुष आदिदेव, अजन्मा और परमात्मा कहते हैं। और तुम भी मुझसे यही कह रहे हो।

(१४) तुम जो कुछ कहते हो, मैं सच मानता हूं। हे केशव ! तुम्हारा स्वरूप देव या दैत्य कोई नहीं जानता।

(१५) हे भूतोंके उत्पन्न करनेवाले ! हे पृथ्वीपति ! हे देवोंके देव ! हे संसार स्वामिन् ! हे पुरुषोत्तम ! तुम ही अपने आपको जानते हो।

(१६) अपनी विभूतियोंके रूपसे तुम सारे संसारमें फैले हुए हो। उन दैवी विभूतियोंका कृपाकर पूरा पूरा वर्णन करो।

(१७) हे योगी कृष्ण ! मै तुम्हारी सदा चिन्ता करता रहता हूं; बतलाओ, तुम्हें कैसे जानूं; किन किन भावोंमें तुम्हारा स्मरण करू ?

(१८) हे लोकनाथ ! फिर अपने योग और विभूतियोंका विस्तारसे वर्णन सुनाओ; क्योंकि इन थोड़ेसे अमृत-वचनोंको सुनकर मेरा सन्तोष न हुआ।

अब श्रीकृष्ण अपने योगका महत्व और विभूतियोंको बतलाते हैः—

(१९) अब मैं खासकर तुम्हारे लिये अपनी दैवी विभूतियों-का वर्णन करता हूं। (तुम जो कहते हो कि उनका विस्तारके साथ वर्णन करो तो भाई!) उनके विस्तारका कोई अन्त नहीं है।

(२०) हे गुड़ाकेश (निद्राको जीतनेवाले अर्जुन !) मैं सब चर-अचर प्राणियोंके अन्दर रहनेवाला आत्मा हूं। मै सृष्टिका आदि, मध्य, और अन्त हूं।

(२१) बारह आदित्योंमें मैं विष्णु हूं, उजाला करनेवाली वस्तुओंमें मै चमकता हुआ सूर्य हूं; नक्षत्रोंमें चंद्रमा और हवाओंमें मैं मरीचि हूं।

(२२) वेदोंमें मैं सामवेद, देवोंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन और प्राणियोंमें मैं चेतन शक्ति हूं।

(२३) रुद्रोंमें मैं शंकर, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर, वसुओंमें अग्नि, पहाड़की चोटियोंमें मै मेरु हूं।

(२४) कुल पुरोहितोंमे मैं प्रधान पुरोहित बृहस्पति हूं; सेनापतियोंमें मैं स्कंद[१] हूं और जलाशयोंमें मै समुद्र हूं।

(२५) महर्षियोंमें मै भृगु हूं; वाणियोंमें मै एक अक्षर ॐ हूं; यज्ञोंमें मै जपयज्ञ हूं और अचल पदार्थोंमें मैं हिमालय हूं

(२६) सारे वृक्षोंमे अश्वत्थ, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ, सिद्धोंमें मै कपिल मुनी हूं।

(२७) घोड़ोंमें मै उच्चैश्रवा हूं जो अमृतसे उत्पन्न हुआ,

१ स्कन्द नाम शिवजीके पुत्र कार्त्तिकेय स्वामीका है।

बड़े बड़े हाथियोंमें मैं ऐरावत हूं; और मनुष्योंमें मै राजा हूं।

(२८) शस्त्रास्त्रोंमें मै वज्र हूं, गौओंमें मैं कामधेनु हूं; सन्तती उत्पन्न करनेवाला मै काम हू और जहरीले सांपोंमें मैं वासुकी हूं।

(२९) जो सांप जहरीले नहीं है उनमें मै शेष हूं, जलचरोंमें मै वरुण हूं; पितरोंमें मै अर्यमा हूं; संयम करनेवालोंमें मै यम हूं।

(३०) दैत्योंमें प्रल्हाद, गणना करनेवालोंमें काल; जानवरोंमें शेर और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूं।

(३१) स्वच्छता फैलानेवालोंमें मैं वायु हूं; शस्त्रधारियोंमें राम; मछलियोंमें मगर और नदियोंमें मै गंगा हूं।

(३२) सारी सृष्टियोंका मै आदि, मध्य और अन्त हूं; विद्याओंमें मैं अध्यात्मविद्या और वादविवादमें मैं *वाद हू।

(३३) अक्षरोंमें मै ओंकार; समासोंमें मैं द्वंद्व§ समास, मैं ही अनन्त काल और मै ही सबका विधाता हू।

(३४) मैं ही सबको हरनेवाला मृत्यु हूं; होनहारका मैं ही बीज हूं; स्त्रियोंमें मैं कीर्ति, शोभा, वाणी, स्मरणशक्ति, बुद्धि धारणाशक्ति और क्षमा हूं।

* वादविवादके तीन भेद होते हैं : वाद, जल्प और वितण्डा। वितंडावाद उसको कहते हैं जिसमें निर्णय नहीं होता। जल्पवाद वह है जो एक मतका खंडन करता है और दूसरे मतको येनकेन प्रकारेण स्थापित करता है और वाद वह है जो तत्वनिर्णयके लिये किया जाय। वादविवादमें यही वाद अच्छा है, इसलिये परमात्माकी विभूति हुआ।

§ द्वंद्व समासमें यह विशेषता है कि दोनों पदोंकी बराबरी होती है। इसमें समता है जो औरोंमें नहीं।

१ कीर्ति, शोभा आदि शब्द स्त्रीलिंगके हैं इसलिये स्त्रियोंमें शामिल किये गये।

(३५) सामवेदमें मै बृहत्साम हूं; छन्दोंमें मैं गायत्री हूं; महीनोंमें मैं मार्गशीर्षका महीना हूं; और ऋतुओंमें मैं वसंत-ऋतु हूं।

(३६) धोखेबाजियोंमें मैं जुवा हूं; तेजस्वियोंमें मैं तेज हूं; मै जय हूं; मैं उद्योग हूं; और नेक मनुष्योंकी मैं ही नेकी हूं।

(३७) यदुवंशमें मैं वासुदेव हूं; पांडवोंमें मैं धनंजय (अर्जुन) हूं, मुनियोंमें मै व्यास हूं; और कवियोंमें मैं उशना कवि हूं।

(३८) दुष्टोंका दमन करनेवालोंमें मैं दंड हूं; जयकी इच्छा करनेवालोंके लिये मैं नीति हूं। गुप्त वस्तुओंमें मैं मौन और ज्ञानियोंमें मै ज्ञान हूं।

(३९) मेरे विना कोई वस्तु नहीं, सारे चर-अचर प्राणियों-का मैं ही बीज हूं।

(४०) हे परंतप ! मेरी दैवी विभूतियोंका अन्त नहीं है। बहुत संक्षेपसे मैंने अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है।

(४१) जिन जिन वस्तुओंमें महत्ता, तेजास्विता अथवा बल है उन उन वस्तुओंको मेरे ही तेजके अंशसे उत्पन्न हुई जान।

(४२) पर हे अर्जुन ! इन बहुतसी विभूतियोंके ज्ञानसे तेरा क्या लाभ है ? इतना याद रख कि मै अपने एक अंशमात्र-से संसार भर फैला हुआ हूं।

दशवां अध्याय समाप्त।

ग्यारहवां अध्याय ।

नवें अध्यायमें सृष्टिके मुख्य मुख्य पदार्थोंको भगवान्के भिन्न भिन्न प्रकटरूप बतलाकर अन्तमें श्रीकृष्णने कहा कि वास्तवमें सारी सृष्टिमें मै अंशरूपसे फैला हुआ हूं। अब इस अध्यायमें परमात्माका विश्वरूप—विराटरूप—अर्जुनको श्रीकृष्ण योगेश्वर दिखला देंगे। इस अध्यायका नाम " विश्वरूप दर्शनयोग है।"

अर्जुनने कहा :

(१) मुझपर अनुग्रह करनेके लिये तुमने जो अध्यात्म विषयका ज्ञान कथन किया उससे मेरा मोह दूर हो गया है।

(२) हे कमल-नयन ! मैंने तुमसे प्राणियोंके उत्पन्न होने और नाश होनेका सविस्तर रहस्य सुना और नाशरहित परमात्माका महत्व भी सुन लिया।

(३) तुमने जैसा अपना वर्णन किया है उस परमेश्वरीय रूपको मैं देखना चाहता हूं।

(४) हे योगेश्वर ! यदि मैं उस रूपको देख सकता हूं तो उस अव्यय आत्माके दर्शन कराओ।

श्रीकृष्ण कहते हैं :

(५) हे पार्थ अच्छा तो मेरे उन सैकड़ों सहस्रों रूपोंको देख जो नाना प्रकारके, नाना आकृति और रंगोंके दिव्यरूप हैं।

(६) उन आदित्यों, वसुओं, अश्विनों और वायुदेवताओंको देख। उन आश्चर्यसे भरी वस्तुओंको देख जिन्हें तूने कभी नहीं देखा है।

(७) सारे भूमंडलों और उन पदार्थोंको, जिन्हें देखना चाहता है आज तू देख।

(८) अपनी इन आंखोंसे तू मुझे नहीं देख सकता। इसलिये तुझे दिव्य नेत्र देता हूं जिनसे मेरा ईश्वरी योग देख।

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा कि,

(९) हे राजन् ! इस प्रकार कहकर महायोगेश्वर श्रीकृष्णने अपना परम ईश्वरी रूप अर्जुन को दिखला दिया।

वह रूप कैसा है ?

(१०-११) मुंह और आंखों की कोई गिनती नहीं है. इनमें नाना प्रकारके अद्भुत दृश्य दिखायी दे रहे हैं; अगणित सुन्दर अलंकार हैं और साथ दिव्य शस्त्र हैं। क्या ही सुन्दर प्रकाश फैलानेवाली मालाएं हैं। कैसा दिव्य वस्त्र धारण किया है ! क्या ही सुगन्ध मय लेप शरीरमें लगा है; आश्चर्य है ! कितने हाथ, कितने मुंह, कितनी आंखें–कोई गिनती नहीं ! यह अनन्त रूप है ! जिस दिशामें देखिये उधर ही मुखादि अवयव दिखाई देते हैं ! कैसा प्रकाश फैला हुआ है !

(१२) हजार सूर्योंकी प्रभा एक ही साथ उदय हो तो वह प्रभा इस प्रकाशके बराबर हो।

(१३) उस परमात्माके रूपमें अर्जुनने सारे भूमंडलके एक एक हिस्सेको एक साथ मिले हुए देख लिया।

(१४) यह रूप देखकर अर्जुनके आश्चर्यका पारावार न रहा, आश्चर्यसे उसके रोंगटे खड़े हो गये और शिर झुका हाथ जोड़ उसने श्रीकृष्णसे कहाः—

(१५) हे ईश्वर ! तेरी देहमें मैं सारे देवताओंको, सारे चर अचर प्राणियोंको, कमलासनपर बैठे हुए ब्रह्मदेवको, सारे ऋषियोंको और पेटके बल चलनेवाले आधे देवोंको मैं देख रहा हूं।

(१६) तेरे चारों दिशाओंमें फैले हुए शरीरमें मैं कितने ही हाथ, पेट, मुंह और आंखें देख रहा हूं ! हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! तेरे आदि, मध्य, और अन्तका पता नहीं लगता।

(१७) सब ओरसे प्रकाशित होनेवाले तुम तेजके समूह हो; सूर्य और अग्निकी प्रभावाले तुम्हारे अनुपम प्रकाशके कारण तुम्हारी ओर देखनेसे आंखे चकाचौंध खा जाती हैं; तुम्हारे शिरपर किरीट और हाथमें गदा और चक्र शोभायमान है।

(१८) तुम ही जानने की वस्तु हो; तुम्हारा कभी नाश नहीं होता, इस संसारके तुम ही आश्रय हो, तुम ही अनादि कालसे धर्मकी रक्षा कर रहे हो, तुम सनातन हो—मेरे ईश्वर हो।

(१९) तुम्हारा आदि, अन्त या मध्य नहीं है; तुम्हारा वीर्य अनन्त है; तुम्हारी अनन्त भुजाएं हैं, सूर्य और चन्द्रमा तुम्हारे नेत्र हैं; तुम्हारा मुख धधकती हुई आगके समान है, तुम अपने तेजसे इस भूमंडलको तपा रहे हो; मै तुम्हारे दर्शन करता हूं।

(२०) पृथिवी और आकाशके बीचका फासिला तुमसे ही भर गया है और सारी दिशाओंमें तुम ही हो। तुम्हारे अद्भुत और उग्र रूपको देखकर तीनों लोक कांप रहे हैं।

(२१) देवताओंके समूह तुममें प्रवेश कर रहे है; कई एक मारे डरके जहांके तहां खड़े खड़े हाथ जोड़ तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं; महर्षि और सिद्ध लोग बहुत प्रकारसे तुम्हारी स्तुति करते हुए याचना कर रहे हैं कि संसारका कल्याण हो।

(२२) रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विन, मरुत, ऊष्मपा; और गन्धर्व, यक्ष, दैत्य, सिद्ध लोग—सभी आश्चर्यसे तुम्हारी तरफ देख रहे है।

(२३) तेरे महत् रूपको देखकर संसार भयभीत हो गया है। इन वड़े वड़े मुखों और नेत्रोंको, इन भुजाओं और जांघोंको, इन विशाल पैरों, उदरों और भयानक दाढ़ो वाले मुखोंको देखकर मैं भी डर गया हूं।

(२४) पृथिवीसे आकाशतक तुम्हारा शरीर फैला हुआ है। इसमें नाना प्रकारके चमकते हुए रंग हैं; बड़ी बड़ी चमकती हुई आंखों और इन खुले हुए मुखोंको देखकर मेरी तबियत परेशान है; मन डावांडोल हो रहा है; और हिम्मत जाती रही है।

(२५) कालाग्निके समान प्रज्वलित और भयंकर दांतों वाले तुम्हारे मुखोंको देखकर मै इतना घबरा गया हूं कि मेरा दिशा-ज्ञान भी जाता रहा, मुझे कुछ नहीं सूझता। हे देवोंके देव! जगत्‌के आश्रय ! मेरे ऊपर कृपा करो।

(२६-२७) कौरव लोग भीष्म, द्रोण, कर्ण, मेरी तरफके सभी बड़े बड़े योद्धाओं तथा कई एक राजाओंके साथ बड़ी तीव्र गतिसे तुम्हारे भयंकर दाढ़ोंवाले मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं; और कुछ लोग तुम्हारे दांतोंमें फंस गये हैं और उनके शिर पीसे जा रहे हैं।

(२८) जिस प्रकार नदियोंकी भिन्न भिन्न धाराएं एक समुद्रमें ही आ गिरती है उसी प्रकार इस मर्त्य लोकके योद्धा लोग तुम्हारे प्रज्वलित मुखमें प्रवेश कर रहे हैं।

(२९) जिस प्रकार पतिंगे जलती हुई मशालपर अपना सर्वनाश करनेके लिये दौड़ आते हैं उसी प्रकार अपना नाश करनेके हेतु लोग बड़े वेगसे तुम्हारे मुखोंमें आ गिर रहे है।

(३०) अपने जलते हुए मुखोंसे तुम सब तरफसे सब लोकोंको ग्रास करते हुए उसका आस्वाद ले रहे हो। हे सदा-चारियोंके रक्षक ! तुमने अपने भयंकर तेजसे सब स्थान भर दिये हैं और सारे संसारको तपा रहे हो।

(३१) हे परमेश्वर ! यह भयंकर रूप धारण करनेवाले तुम कौन हो ? मैं तुम्हें नमस्कार करता हूं। मुझपर कृपा करो। तुम्हारा आदि रूप क्या है, मुझे बताओ। मै तुम्हारा

मतलब नहीं समझता।

श्रीकृष्ण कहते हैः—

(३२) संहार करनेवाला मैं काल हूं; संसारका नाश करनेके हेतु उद्यत हूं। इस समय लड़ाईके लिये जो योद्धा कमर कसे खड़े हैं उनमेंसे एक भी मृत्युसे न बचने पावेगा। तू युद्ध न भी करे तो क्या!

(३३) इसलिये हे अर्जुन! उठ शत्रुओंको हराकर यशका भागी बन और समृद्ध राज्यको भोग। मैंने तो इनको मार ही डाला है; हे *सव्यसाचिन! तुझे केवल निमित्तके लिये लड़ना है।

(३४) मैंने द्रोण, भीम, जयद्रथ, कर्ण और सभी योद्धाओंको मार ही डाला है। तू निडर होकर उनका नाश कर। युद्ध कर; तू विपक्षियोंको अवश्य जीतेगा।

संजयने कहाः—

(३५) केशवका यह वचन सुनकर किरीट धारण किये हुए अर्जुनने (जिसका गला इस समय भर आया था) कांपते हुए हाथ जोड़कर बार बार नमस्कार कर कहाः—

(३६) हे हृषीकेश! तुम्हारी कीर्ति सुनकर संसार प्रसन्न हो रहा है। सब लोग तुम्हारी भक्ति कर रहे हैं। राक्षस लोग मारे डरके चारों ओर भाग रहे हैं। सब सिद्धोंके समुदाय तुम्हें नमस्कार कर रहे हैं। यह उचित ही है।

(३७) उनका नमस्कार करना ठीक ही है; क्योंकि तुम बड़े हो-ब्रह्माके भी पिता हो। हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! तुम अक्षर हो; तुम ही सूक्ष्म और स्थूल प्रकृति हो, और तुम ही प्रकृतिके परे रहनेवाले परमात्मा हो।

* जो बाए हाथसे भी बाण चला सके उसे सव्यसाचिन् कहते हैं।

(३८) तुम आदि देव हो; तुम सनातन पुरुष हो; तुम इस संसारके सहारे हो, तुम ही ज्ञानी हो और तुम ही जानने योग्य हो; तुम ही परंधाम हो, तुम्हारे अनन्त रूप हैं, भूमंडलभर तुम ही तो हो।

(३९) तुम ही वायु, यम, अग्नि, चन्द्रमा, वरुण हो; और तुम ही ब्रह्मा और तुम ही ब्रह्माके पिता हो। तुम्हें बार बार नमस्कार हैं।

(४०) सब तरफसे तुम्हें नमस्कार हैं। तुम ही सब कुछ हो। तुम्हारा अनन्त वीर्य और अनन्त शक्ति है। तुम सर्वत्र हो, इसलिये, तुम ही सर्व हो।

(४१-४२) तुम्हें मित्र जानकर प्यारसे या बेपरवाहीसे तेरी महिमा न जाननेसे यदि कभी मैंने तुम्हें हे कृष्ण, हे यादव अथवा ऐ मित्र! कहकर पुकारा हो; और उसी प्रकार हे अच्युत! कभी खेल कूदके समय अथवा साथ सोते हुए या अकेलेमें, चार लोगोंके सामने मैंने किसी प्रकार तुम्हारा असम्मान किया हो तो मुझे क्षमा करना।

(४३) तुम चर और अचर संसारके पिता हो, गुरुसे भी बढ़कर तुम पूजनीय हो; तुमसे बड़ा कोई क्या होगा? तुम्हारे बराबर ही कोई नहीं है। तीनों लोकमें तुम्हारा कोई सानी नहीं।

(४४) इस लिये मै तुम्हें साष्टांग दण्डवत् करता हूं। मैं तुमको प्रसन्न करना चाहता हूं। जिस प्रकार पिता अपने पुत्रको, मित्र अपने मित्रको, और प्रेमी अपने प्रेमपात्रको क्षमा कर देता है, वैसे ही तुम मेरा अपराध क्षमा करदो।

(४५) जिस रूपको मैंने पहिले कभी नहीं देखा उसे देख-कर मुझे बहुत आनंद हुआ सही, पर मारे डरके मेरा मन बेचैन है, इस लिये हे ईश्वर! वह रूप फिर दिखलाओ। हे देवोंके

देव ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न हो !

(४६) ऐ सहस्रों भुजाओं और मुखोंवाले ! मैं तुम्हारा वही रूप देखना चाहता हूं जिसमें शिरपर किरीट, हाथमें गदा और चक्र है; जिसके चार हाथ हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं:—

(४७) मेरी कृपा और मेरी योगशक्तिसे तूने वह आदि, प्रकाशमान, अनन्त और विश्वरूप देख लिया जिसे पहिले किसीने नहीं देखा था।

(४८) इस रूपको कोई वेदपाठ, यज्ञ, ध्यान, दान, कर्म, अथवा उग्र तपसे नहीं देख सकता। ऐसे रूपको तूने देख लिया।

(४९) घबरा मत ! इस भयंकर शकलोंको देखकर न घबरा। भय छोड़ और मेरे इस नित्यके रूपको देख।

संजय कहते हैं:—

(५०) ऐसा कहकर वासुदेवने अर्जुनको अपना सौम्य रूप दिखलाया और उसकी घबराहट दूर की।

अर्जुनने कहा:—

(५१) हे जनार्दन ! तुम्हारे इस सौम्य मनुष्य रूपको देखकर मेरे होश ठिकाने हुए।

श्रीकृष्णने कहा:—

(५२) मेरा यह रूप जो तूने देखा है, कोई जल्दी नहीं देख पाता। देवता लोग भी इसे देखनेके लिये तरसते रहते हैं।

(५३) तूने देखा हुआ यह रूप न वेदोंसे दिखाई देता है न यज्ञ, दान अथवा तपसे ही जाना जा सकता है।

(५४) हे अर्जुन ! अनन्य भक्तिसे अवश्य ही मेरे इस रूपको कोई भी देख सकता है। और भक्तिसे ही मैं जाना जा सकता हूं। वास्तवमें मेरा कैसा रूप है उसके जाननेके लिये

भी भक्ति ही चाहिये।

(५५) जो अपने सब कर्म मुझे अर्पण कर देता है, जिसका उद्देश्य ही मैं हूं, जो मेरी ही भक्ति करता है; और जो विषयोंकी इच्छा छोड़ किसीसे द्वेष नहीं करता वह मेरे समीप आता है।

ग्यारहवां अध्याय समाप्त।

बारहवां अध्याय।

परमात्मा निराकार है और साकार भी। साकार परमात्मा सृष्टि तथा सृष्टिकार्यके रूपसे दृश्यमान है और निराकार परमात्मा उसी साकारके अन्दर व्याप्त है। जो लोग निराकारका अनुभव नहीं कर सकते अवश्य ही वे साकारकी भक्ति और उपासना करते है। जो निराकार अनुभव करते हैं वे तो फिर ब्रह्मरूप ही है। इस लिये प्रश्न उठता है परमात्माका किस रूपमें अनुभव करनेवालोंकी योग्यता अधिक है? इसका उत्तर इस भक्तियोग नामक अध्यायमें दिया जायगा; और योगीका विशद वर्णन भी इस अध्यायमें होगा।

अर्जुन प्रश्न कहते हैः—

(१) कौन योगी श्रेष्ठ है? जो भक्त सदा तुम्हारी तरफ चित्त लगाए उपासना करते हैं वे अथवा वे भक्त जो तुम्हें अक्षर, अव्यक्त समझते हुए तुम्हारी भक्ति करते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं—

(२) जो लोग मेरी तरफ चित्तको स्थिर लगाए हुए बड़ी श्रद्धाके साथ मेरी उपासना करते है वे, मेरी दृष्टिसे, उत्तम योगी है।

(३-४) जो लोग मुझ अक्षर, अकथनीय, अदृश्य, सर्वव्यापी, अचिन्तनीय, *कूटस्थ, अचल ध्रुव[1]की भक्ति करते है, और इंद्रियोंको विषयोंसे रोक कर सबको एक आंखसे देखते हैं, और जो सदा प्राणी मात्रकी सेवामें लगे रहते हैं वे मेरे समीप आते हैं।

(५) परन्तु जो लोग अव्यक्तके उपासक हैं उनकी राहमें बहुत कांटे है, क्योंकि निराकार ब्रह्मपर मनुष्यकी श्रद्धा जल्द नहीं होती।

(६-७) जो लोग अपने सारे काम मुझे अर्पण कर मेरे ही हो जाते है और अनन्य भक्तिसे मेरी उपासना करते है अथवा मेरे विषयका ही चिन्तन करते हैं उन्हें मैं इस मृत्यु लोककी विपदोंसे बहुत जल्द छुड़ाता हूं।

(८) अपने मनको मेरी तरफ लगा और अपनी बुद्धिको मेरे ही विचारमें स्थिर कर तो तू सदा मुझमें ही रहेगा इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं।

अब इसके बाद श्रीकृष्ण भगवान् १२ वें श्लोकतक योगके कई मार्ग इस लिये बतलाते हैं कि जो मार्ग जिसे अनुकुल अथवा पसंद हो उस मार्गपर वह चले। कोइ ज़बरदस्ती नहीं है। अपनी योग्यता, अपनी शक्ति और अधिकार देखकर अपनी अपनी राह ढूँढ निकालनेका सबको हक है।

(९) यदि अपना मन मेरी तरफ लगाना न बन पड़ता हो तो हे धनंजय! अभ्यास योग[2] द्वारा ही मुझे प्राप्त करनेकी चेष्टा कर।

---

* निर्विकार।

१ सदा रहनेवाला।

२ समाधि।

(१०) यदि अभ्यास योग भी न सधे तो जो कोई तू काम करता है उसे मेरे प्रति अर्पण कर दे। मेरे लिये ही कर्म करनेसे तुझे सिद्धी प्राप्त होगी।

(११) यदि यह भी न बन पड़े तो मनको जीतकर मेरी शरण आ और संयमके साथ, कर्मके फलकी आशा छोड़ दे।

(१२) अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानसें निष्काम कर्म करना उत्तम है और ऐसे ही सन्याससे शान्ति प्राप्त होती है।

(१३-१४) वह भक्त मेरा प्यारा है जो प्राणी मात्रसे प्रेम रखता है; जो सबसे मित्रता और दयाका व्यवहार करता है; जो मोह और घमंडसे स्वतंत्र है; जो सुख दुःखमें एकसा रहता है, जो क्षमाशील, संतुष्ट, योगमें रत, जितेन्द्रिय, दृढ़व्रती और मन और बुद्धिके साथ जो मेरा हो गया है।

(१५) जो न संसारको कष्ट देता है और न संसारसे कष्ट पाता है—जिसने हर्ष, लोभ, भय और स्वार्थका परित्याग कर दिया है वह मेरा प्यारा है।

(१६) जो पुरुष किसी विषयकी इच्छा नहीं करता; जो भीतर बाहर स्वच्छ है; जो प्रत्येक कामको यथाविधि समयपर और मन लगाकर करता है; जो किसीकी तरफदारी नहीं करता; जो क्लेशोंको तुच्छ समझता है और जिसने सब प्रकार स्वार्थके उद्योग छोड़ दिये हैं वह भक्त मेरा प्यारा है।

(१७) कोई अच्छी वस्तु मिलनेपर जिसे न आनंद होता है न बुरी वस्तु पाकर जो दुःखी होता है; जो निराश होकर न दुःख करता है और न आशा ही रखता है, जिसने भले बुरे सब पदार्थोंका भोग त्याग कर दिया है; और जो भक्तिमान् है वह मेरा प्यारा है।

(१८-१९) शत्रु, मित्र, मान, अपमान, सरदी गरमी, सुख दुःख आदिको, जो एकसा समझता और इच्छा छोड़कर सत्कर्म करता है; जो स्तुति सुनकर न फूलता है और न निन्दा सुनकर नाक सिकोड़ता है; जो कभी बात करता है तो कामकी ही बात बतलाता है—फ़ज़ूल नहीं बोलता; जो घरबार न रखकर संतुष्ट रहता है और बुद्धिको स्थिर रखता हुआ मेरी भक्ति करता है वह मेरा प्यारा है।

(१९) जो लोग इस धर्मरूपी अमृतको पानकर सद्धर्मसे चलते हैं वे श्रद्धावान भक्त मेरे अत्यंत प्रिय है।

बारहवां अध्याय समाप्त।

तेरहवां अध्याय।

इस अध्यायका नाम 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योग' है। नामसे ही प्रकट है कि इस अध्यायमें क्षेत्र अर्थात् शरीर और क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा इन दो वस्तुओंका परस्पर क्या संबंध है इसका वर्णन होगा। इस अध्यायमें श्रीकृष्ण प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ ज्ञान और ज्ञेयका खुलासा करेंगे।

(१) हे कुन्तिनन्दन ! इस शरीरको ही क्षेत्र कहते हैं; इसका जो ज्ञान रखता है उसे जानकार लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

(२) हे अर्जुन ! सब शरीरोंमे रहनेवाला मैं आत्मा हूं इसलिये मुझे ही क्षेत्रज्ञ जान। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विषयक जो पृथक् पृथक् ज्ञान है वही सच्चा ज्ञान है।

(३) वह क्षेत्र जैसा कुछ है, उसका जो स्वभाव है, और उसमें जो विकार हैं, और उसका कहांसे उत्पत्ति है, इत्यादि बातोंको और साथ साथ क्षेत्रज्ञ क्या है और उसकी कैसी शक्ति है

इसका भी हाल मैं सुना देता हूं।

(४) ऋषियोंने, वेदोंने और ब्रह्मसूत्रकारोंने निश्चित रूपसे युक्तियोंसे नानाप्रकारसे इसका वर्णन किया है।

(५-६) पृथिवी, जल, तेज, वायु, और आकाश ये पांच तत्व, अहंकार, बुद्धि, मूल प्रकृति, दशों इन्द्रिय और ग्यारहवां मन, इन्द्रियोंके विषय[1], इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात[2], चेतना[3], धृति[4] इन्हींको विकार सहित क्षेत्र कहते हैं।

५वें और ६ठे श्लोकमें शरीरका स्वरूप बतलाया गया। अब ७-११ श्लोकोंमें जीवके सद्गुण कथन करते हैं।

(७-११) अपनी प्रतिष्ठाकी इच्छा न रखना, शेखी न मारना दूसरोंको कष्ट न देना, दूसरोंके अपराध क्षमा करना, सबसे सीधा व्यवहार करना गुरुकी सेवा करना, अन्दर बाहरसे साफ रहना, सत्कार्यमें दृढ़ रहना, इन्द्रियोंको अधीन रखकर विषयोंसे बचना, अपने आपको बड़ा न मानना, और जन्म, मृत्यु, जरा, और रोगादि दुःखोंका तात्पर्य समझ लेना; विहार और विलासमें मगन न होना; पुत्र, स्त्री, और घरबारमें फंस न जाना, भले बुरेकी परीक्षाके समय मनको बराबर रखना, आत्माकी अनन्य भक्ति करना, एकान्त प्रान्तमें रहना और बहुत भीड़ भाड़की प्रीति न रखना, आत्माके सम्बन्धके ज्ञानमें प्रवृत्त रहना, तत्वको जाननेके लिये बार बार शास्त्रोंको पढ़ना—ये सब सच्चे

---

१ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच इन्द्रियोंके पांच विषय हैं। शब्द सुनना कानका विषय, स्पर्श करना चमड़ेका विषय, रूप देखना आंखका विषय, और गन्ध लेना नाकका विषय है।

२ पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाशकी मिलावटको संघात कहते हैं।

३ विचार करनेवाली शक्तिको चेतना कहते हैं।

४ चित्तको दृढ बनानेवाली शक्तिका नाम धृति है।

ज्ञानके लक्षण हैं। जो ज्ञान इसके विपरीत है, वह अज्ञान है।

(१२) अब मैं तुझे बतलाता हूं: ज्ञेय[5] क्या है? जिसे जानकर मनुष्य अमर हो सकता है। ज्ञेय वह परं ब्रह्म है जिसका न आदि है न अन्त और जो सत् असत्से अनोखी चीज है।

(१३) उस अनादि ब्रह्मके चारों ओर हाथ है; चारों ओर पैर है, चारों ओर आंखें हैं, चारों और शिर और चारो ओर मुख है। वह सबको देखता है, सबकी सुनता है, संसारको वही थांमे हुए है।

(१४) उसके इंद्रियां नहीं है पर इन्द्रियोंकी जो जो शक्ति है उस उस शक्तिके साथ वह प्रकाशमान है। वह सब बंधनोंसे रहित है पर सबको धारण किये हुए है; वह निर्गुण है और गुणोंको भोक्ता भी है।

(१५) वह ब्रह्म सब प्राणियोंके बाहर भीतर है, वह चलता भी है और नहीं भी, वह सूक्ष्म है इस लिये दिखायी नहीं देता; वह दूर है, और पास भी है।

(१६) वह भूत मात्रमें मिला हुआ है, और अलग भी है। वह ब्रह्म भूतोंका स्वामी है, सबको मिटा देनेवाला और सबको उत्पन्न करने वाला वही है।

(१७) वह सूर्य्यादि तेजः पुंज देवोंको भी प्रकाश देता है। जहां वह है वहांसे अज्ञान दूर है, वह ज्ञान है, उसीको जानना कर्तव्य है, और वही उत्तम गुणोंके आचरण कर ज्ञान प्राप्त करनेसे जाना जाता है। वही सबके हृदयमें वास करता है।

(१८) क्षेत्र, ज्ञान, और उस ज्ञेय ब्रह्मका अबतक संक्षेपसे वर्णन हुआ। इसको जाननेसे मेरे भक्त मेरे भावको प्राप्त होते हैं।

---

५ जिस वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना कर्तव्य है उसे ज्ञेय कहते हैं।

(१९) प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। नाना प्रकार-के विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते है ।

(२०) शरीर और मन तथा इन्द्रियोंका मूल प्रकृति कही गयी है, और सुख दुःखके अनुभव होनेका कारण पुरुष या जीवात्मा बतलाया जाता है ।

इस श्लोकमें जड़ प्रकृतिको, कार्य करनेवाली शक्ति और आत्माको, भोक्ता बतलाया है। यह असंभव मालूम हो सकता है पर जिसप्रकार वायुके झोकेसे आग ऊपरको जल उठती है अथवा किसी प्राकृतिक कारणसे हवा सीधी न बहकर टेढ़ी बहने लगती है उसी प्रकार चेतन आत्माका साथ होनेसे प्रकृतिमें कार्यशक्ति आ जाती है । और आत्मा जो भोक्ता बतलाया गया इसका कारण भी प्रकृतिकी सोहबत है । खुलासा यों है :

(२१) प्रकृतिमें रहता हुआ पुरुष प्रकृतिके गुणोंको अनुभव करता है । पुण्य अथवा पाप योनियोंमें जो जन्म होता है उसका कारण प्रकृतिके इन्हीं गुणोंमें फंसना है ।

(२२) इस देहमें रहनेवाले इस पुरुषको साक्षी, पालक, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मातकका नाम दिया गया है ।

(२३) जो मनुष्य इस पुरुषको, प्रकृतिको और उसके गुणोंको जान लेता है वह चाहे किसी हालतमें हो जन्ममृत्युसे छूट जाता है।

(२४) कोई ध्यान करके अपनेमें ही पुरुषको देख लेते हैं; कोई सांख्यद्वारा, कोई योग* द्वारा और कोई कर्मयोग द्वारा

(१) शरीर, सृष्टि अथवा माया ।

(२) आत्मा ।

* प्रकृति और पुरुष दोनोंको एक समझना ।

आत्माको जान लेते हैं।

(२५) और जो लोग सांख्य, योग, अथवा कर्मयोगके रहस्यको नहीं समझते वे दूसरोंसे सुनकर उपासना करते हैं। वे भी भक्त होनेके कारण मृत्युको पार करते हैं।

(२६) हे भरतकुलके गौरव! जो जो स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे आत्मा और प्रकृतिके संयोगसे ही होते हैं।

(२७) जो पुरुष उस अविनाशी परमेश्वरको इन सब विनाशी भूतोंमें एकसा रहता हुआ देखता है वही देखता है— उसीकी आंखें खुली हैं।

(२८) जो पुरुष परमेश्वरके न्यायको देखकर ऐसा आचरण नहीं करता जिससे उसकी हानि हो वह पुरुष सबसे ऊँचे पदपर पहुँचता है।

(२९) जो पुरुष समझता है कि सब काम प्रकृति द्वारा ही होते हैं—आत्मा कुछ नहीं करता, वही समझदार है।

(३०) जब कोई व्यक्ति पृथिवी आदि भिन्न भिन्न भूतोंको एक ब्रह्ममें ही एक साथ स्थित देखता है और जानता है कि उसी ब्रह्मसे ब्रह्मांडका विस्तार है तब वह ब्रह्मको पा लेता है।

(३१) यह अव्यय आत्मा अनादि और निर्गुण है। इसलिये शरीरमें रहता हुआ भी कुछ न करता है और न कुछ भोगता है।

(३२) आकाश जैसे सूक्ष्म है वैसे ही आत्मा भी सूक्ष्म है। और जिस प्रकार आकाशमें कलंक नहीं लगता उसी प्रकार सारे शरीरमें फैलकर भी आत्मा अकलंकित रहता है।

(३३) जिस प्रकार एक ही सूर्य सारे संसारको प्रकाशित करता है उसी प्रकार इस सारी प्रकृतिको परमात्मा प्रकाशित करता है।

(३४) आत्मा और प्रकृतिके इस भेदको तथा प्रकृतिसे प्राणियोंके छूटनेका उपाय जो लोग ज्ञाननेत्रोंसे देख लेते हैं वे परमात्माके समीप जाते हैं।

परमात्माके समीप जानेके चार उपाय—सांख्य, योग, कर्मयोग, तथा अनन्य भक्ति—इस अध्यायमें बताए गये हैं। परन्तु इन चारों प्रकारके उपासकोंके लिये कुछ सामान्य उपदेश भी ७वें श्लोकसे ११वें श्लोकतक दिये गये हैं जो बड़े महत्वके हैं-जिनके आचरणसे मनुष्य नित्यके अपने व्यवसायमें बड़ी सुगमतासे सिद्धी लाभ कर सकता है; अपने समाजको बहुतसा लाभ पहुंचा सकता है, और परमात्माके मन्दिरका मार्ग क्रमण कर सकता है। हम लोगोंको इस समय साम्यकी बड़ी आवश्यकता है। इस अध्यायमें बारबार समताका उपदेश इसीलिये है कि लोग इससे सबको समान मानना सीखें। यह तो इस अध्यायका आचरणीय अंश हुआ।

अब मननीय अंशको देखिये। मनुष्य सदाचारी हो तब उसे विमल ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। परमात्मा क्या है? इस आत्मामें और परमात्मामें क्या भेद है? परमात्मा छोड़ इस संसारमें कुछ नहीं है इस वाक्यसे यह सिद्ध है कि जो जो चीज हम और आप किसी प्रकारसे अनुभव करते हैं वह परमात्मा ही है। इसलिये एक एक मनुष्य भी परमात्मा है परन्तु परमात्माकी योगशक्तिसे उत्पन्न हुई प्रकृति एक ऐसी वस्तु है जो परमात्माको छिपाती है। पर यदि प्रकृति न हो तो परमात्माके दर्शन भी नहीं हो सकते। क्योंकि जैसा यह आकाश है—कोई रूप नहीं कोई आकार नहीं-मानों कुछ नहीं और सब कुछ है क्योंकि इसीके अन्दर सब कुछ है-वैसा ही परमात्मा है। ऐसा ही आत्मा है। भूमंडलके सारे पदार्थोंमें आत्मा है। आत्मा और

प्रकृतिके संयोगके बिना कुछ उत्पन्न हो नहीं हो सकता । इस-लिये कोई चीज ऐसी नहीं जिसमें आत्मा न हो । परन्तु प्रत्येक पदार्थका आत्मा भिन्न भिन्न नहीं है । उन आत्माओंके समूहका नाम परमात्मा है । वही परमात्मा हमारे आपके शरीरमें और वही परमात्मा घास, पेड़, फल फूलमें है । यहांतक दृष्टि चौड़ी होनेके लिये समय, तपस्या और ज्ञान चाहिये । सबसे आव-श्यक बात आचरण है क्योंकि आचरणसे ही बुद्धि साफ होती है । और बुद्धि साफ होनेसे ही ज्ञान प्राप्त होता है ।

तेरहवां अध्याय समाप्त ।

चौदहवां अध्याय ।

गत अध्यायमें श्रीकृष्ण भगवान्ने परमात्मा, आत्मा और प्रकृतिका भेद बतलाया और कहा कि अच्छी और बुरी योनियो-में जीवात्मा जो जन्म लेता है उसका कारण गुण है । वह गुण है क्या? गुण कितने प्रकारके है? मनुष्यके जीवनपर उनका क्या असर पड़ता है? उनके बुरे परिणामोंसे बचनेका क्या उपाय है? इत्यादि प्रश्नोंका खुलासा इस अध्यायमें होगा और इसलिये इस अध्यायका नाम ‘ गुणत्रय विभाग योग ’ है ।

श्रीकृष्ण कहते हैं :

(१) हे अर्जुन ! जो ज्ञान सब ज्ञानोंमें श्रेष्ठ है और जिसको जानकर सब मुनी लोग इस देहबन्धनको तोड़कर मोक्ष पा लेते है वह ज्ञान मैं तुझे फिर बतलाता हूं ।

(२) जो लोग इस ज्ञानको प्राप्त कर मेरे स्वभावको ग्रहण कर लेते है वे मुनी लोग सृष्टि-रचना पुनः आरंभ होती है तब जन्म नहीं लेते और न प्रलय होनेपर दुःखी होते हैं ।

(३) प्रकृति मेरे अधीन है, उसीसे मैं गर्भ धारण करता हूं—बीज बोता हूं । उसी बीजसे सारे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है ।

(४) सब योनियोंमें जो जो शरीर उत्पन्न होते हैं उनका मूल गर्भ प्रकृति है और गर्भ देनेवाला मैं हूं ।

(५) प्रकृतिसे सत्व, रज, तम ये तीन गुण उत्पन्न हुए हैं । ये ही गुण जीवको शरीरमें बांध रखते हैं ।

मनुष्यके अन्दर जो भिन्न भिन्न रुचि और भाव होते हैं उनके कारण येही तीन गुण हैं । सत्वगुण प्रकृतिका वह गुण है जो ज्ञानका प्रकाश फैलाता है । मनुष्य जो कुछ सच्चाई और नेकी करता है उसका कारण वही सत्वगुण है । रजोगुण वह गुण है जिससे मनुष्यके अन्दर मौज उड़ानेकी इच्छा होती है । और तमोगुण वह है जिससे मनुष्य अंधकारमें पड़ा रहता है । आलसी, दुराचारी और अज्ञानी मनुष्य तमोगुणी हैं ।

प्रकृतिके ये तीन गुण जीवको शरीरसे बांधनेवाली तीन रस्सियां हैं । सत्वगुण ज्ञानका प्रकाश फैलाता हुआ भी ज्ञानकी लालचसे जीवको शरीरसे बांध देता है ।

(६) उक्त तीनों गुणोंमे सत्वगुण अच्छा है; निर्मल है और ज्ञानको फैलानेवाला है; उसमें दुःख नहीं है; सुखके संगसे और ज्ञानकी लालचसे वह जीवको शरीरसे बांध देता है ।

(७) हे कुन्तिपुत्र ! रजोगुण रागसे भरा हुआ है । नाना प्रकारके विषयोंकी इच्छा और उनका प्रेम इसी गुणसे उत्पन्न होता है । जीवको यह काममें प्रवृत्त करता है । इसलिये यह जीवको कर्मके बंधनसे बांधनेवाला गुण है ।

(८) तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है और जीवोंको अंधकारमें ढकेल देता है और उन्हें खुराफात, आलस्य, नींद

आदि बुरे कर्मोंके बंधनोंमें फंसता है।

(९) सत्वगुण सुखमें, रजोगुण काममें, और तमोगुण निद्रा, आलस्य, और प्रमादमें जीवको लगा देता है।

ये तीनों गुण सब मनुष्योंमें समान अथवा एक मनुष्यमें बराबर नहीं होते। हरएक जीवमें तीनों गुण होते हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु किसीमें कोई गुण अधिक होता है और किसीमें वही गुण कम होता है। किसीमें सत्वगुण अधिक होता है और रज, तम, कम होते है। इसीलिये भिन्न भिन्न रुचि और विचारके लोग होते हैं।

(१०) कभी रज और तमको दबाकर सत्वगुण प्रधान होता है; कभी रज और सत्वको दबाकर तमोगुण प्रधान होता है और कभी सत्व और तमको दबाकर रजोगुण प्रधान होता है।

जिसमें जो गुण प्रधान होता है वह उसी गुणवाला समझा जाता है; उसके कार्य भी उसी गुणके अनुकूल हुआ करते हैं। कार्योंसे पहिचाना जाता है कि कौन मनुष्य सात्विक, कौन राजसी और कौन तामसी है। इसलिये अब उनके लक्षण बतलाते हैं।

(११) इन्द्रियोंके सब द्वारोंसे इस देहमें जब ज्ञानरविके किरण चमकने लगते हैं तब समझना चाहिये कि इस देहमें सत्वगुणकी मात्रा अधिक है।

(१२) जब रजकी प्रधानता होती है तब लोभ, कार्य विशेषकी ओर प्रवृत्ति, चेष्टा, बेचैनी और नाना प्रकारकी इच्छाएं उत्पन्न होती है।

(१३) तमके बढ़नेसे अंधकार, आलस्य, लापरवाही और मोह उत्पन्न होता है।

ये तीनों गुणोंके लक्षण हुए। अब यह बतलाते हैं कि देह

त्याग करनेपर किस गुणवाला जीव किस योनीको प्राप्त करता है।

(१४) सत्वगुणकी अधिकता होनेसे मनुष्य देह छोड़नेपर ज्ञानी लोगोंके निर्मल जन्मोंको पाता है।

(१५) रजकी अधिकता हो तो देहावसानपर मनुष्य इच्छा-से कर्म करनेवाले साधारण मनुष्योंमें जन्म लेते है। और जहां तमकी अधिकता है वहां अज्ञान योनीमें जन्म मिलता है।

(१६) यह कहा गया है कि पुण्यकर्मका फल सात्विक और निर्मल होता है; रजवाले कर्मका फल दुःख और तमवाले कर्मका फल अज्ञान है।

(१७) सत्वसे ज्ञान प्राप्त होता है, रजसे लोभ उत्पन्न होता है; और तमसे लापरवाही, मोह और अज्ञान फैलता है।

(१८) सत्वगुणवाले लोग उच्च पदको पाते है; राजसी लोग मध्यम स्थितिमें रहते हैं; और तामसी लोग नीच और पाप वृत्तिमें रहकर नीचे ही नीचे जाते है।

सात्विकोंको ऋषि मुनियोंकी उच्च दशा प्राप्त होती है; राजसी लोग राज्यादि विनाशी पदार्थ पाते हैं और कर्मबंधनोंमें फंसकर दुःखी होते हैं; और तामसी लोगोंकी हर तरहसे दुर्गति होती है।

(१९) जब जीव यह जान लेता है कि ये सब कार्य करने वाले और भोग भोगनेवाले ये ही गुण हैं और कोई नहीं; और जब इन गुणोंके परे उस परमात्माको जीव देख लेता है तब वह ईश्वरके भावको समझ लेता है।

(२०) शरीरसे उत्पन्न होनेवाले इन तीन गुणोंको लांघकर जीव जन्म, मृत्यु, जरा आदि दुःखोंसे मुक्त हो कर अमर हो जाता है।

अर्जुनने पूछा :—

(२१) हे नाथ! ज्ञानी लोग किन बातोंसे इन तीन गुणोंको जीत लेते हैं? इनके लिये क्या काम करना चाहिये? कृपाकर बतलाओ कि किस प्रकार इन तीन गुणोंको जीतना होता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं :—

(२२-२५) प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह अर्थात् सत्व, रज, तमके कार्य प्रकट होनेपर जो न उनसे घृणा करता है और न उनके बन्द पड़नेपर उनकी इच्छा रखता है—इस प्रकार गुणोंके कारण जो अपने स्थानसे चलविचल नहीं होता और यह सोचता है कि गुण अपना काम कर रहे हैं—मुझसे कोई वास्ता नहीं—जो सुख और दुःख एकसा समझता हुआ अपने आपमें मगन रहता है—जिसके लिये पत्थर, लकड़ी और सोना सब बराबर है—जो न प्यार करता है न घृणा करता है—जो धैर्यवान् है-अपनी स्तुति और निंदाको एकसी समझता है-मान अपमान और मित्र-शत्रुको जो एक ही आंखसे देखता है—जिसने सब इच्छाओंको त्याग दिया है—उसीको गुणातीत अथवा गुणोंको जीत लेनेवाला कहते हैं।

(२६) और जो अनन्य भक्तिसे मेरी सेवा करता है वह गुणोंको पारकर ब्रह्म होनेमें समर्थ होता है।

(२७) मैं ही ब्रह्मका* स्थान हूं। वह ब्रह्म अमृत, अव्यय, चिरजीवी, धर्म, सुख और शान्ति है।

गुणत्रय विभाग योग समाप्त हुआ। इसमें तीनों गुणोंका विशद वर्णन हो चुका है। हरेक गुणसे क्या क्या लाभ है वह भी बतला दिया है। श्रीकृष्णका उपदेश है कि सत्वगुणी हो

---

* यहां ब्रह्मसे वेदोंका अर्थ निकालते हैं। कोई हरज नहीं; ब्रह्मकी ये उपमाएं वेदोंपर भी घट सकती हैं। और वैदिक आचरणसे मनुष्य सत्व प्रधान हो इस अध्यायको चरितार्थ कर सकता है।

अनन्य भक्तिसे किसी भी रूपमें परमात्माकी सेवा करो। सत्व गुणकी वृद्धि करनेके लिये सदाचार ही एक उपाय है। श्रीमत् भागवत स्कंध ११ अध्याय १८ श्लोक २१ में श्रीकृष्ण भगवान् कहते है कि दैवी प्रकृति वाला जो सत्वगुण है उसकी वृद्धि सदाचार, सन्मित्रता और प्राणिमात्रसे सहानुभूति रखनेसे होती है। इसलिये पहिले अपने घरपर, फिर अपने छोटे समाजमें, फिर सारे देशमें और इस प्रकार बढ़ते कदम सदाचारी जीवन व्यतीत करनेसे मनुष्य परमात्माका पूर्ण भक्त बन सकता है।

चौदहवां अध्याय समाप्त।

पंद्रहवां अध्याय।

"क्षेत्र क्षेत्रज्ञविभाग योग" में प्रकृति और पुरुषका भेद बतलाया गया और "गुणत्रयविभाग योग" में प्रकृतिके गुणोंसे कैसे स्वतंत्र रहना चाहिये इसका वर्णन हुआ। अब इस "पुरुषोत्तम योग" नामक अध्यायमें परमात्मा और जीवका योग करनेके लिये संसाररूपी वृक्षको असंगरूपी शस्त्रसे छेदनेका उपदेश दिया गया है।

(१) श्रीकृष्ण कहते हैं: यह संसार एक अश्वत्थ* वृक्षके समान है। इसकी जड़ ऊपरको और शाखाएं नीचेकी तरफ है। इसके पत्ते वेद है। यह अविनाशी वृक्ष है। इसे जो जानता है वह वेदज्ञ है।

श्रीकृष्ण भगवान्ने संसारको अश्वत्थकी उपमा दी है और उसकी जड़को ऊपरकी तरफ बतलाया है। ऊपरसे ब्रह्म और मायाका मतलब है। कहना यह है कि उस वृक्षपर ब्रह्म और

* पीपल।

माया दोनों है जिस प्रकार मनुष्य और उसकी छाया एक साथ रहते हैं। माया ईश्वरकी छाया है। नीचेसे जीवका मतलब है और शाखाओंसे उन जीवोंके शरीरोंका मतलब है। इस प्रकार उस वृक्षके ही सब अँश हैं। ऊपर ईश्वर और महद्ब्रह्म, नीचे जीव और प्रकृति। ऊपरका अंश सदा रहने वाला और नीचेका अंश बदलने वाला है।

(२) इसकी शाखाएं ऊपर नीचे फैली हुई हैं। सत्व, रज तम इन गुणोंसे शाखाए पुष्ट हैं। इन शाखाओंपर शब्द, स्पर्श, रस आदिके पत्ते लगे हैं। और मनुष्यलोकके वासना रूप कर्म इस वृक्षकी नीचेकी जड़ें हैं जो इधर उधर फैल रही हैं।

(३-४) इहलोकमें उस संसाररूपी वृक्षका रूप किसीको नहीं दिखाई देता। न इसके शुरूका पता लगता है और न अखीर का। इसके रहनेकी जड़ भी ढूंढे नहीं मिलती तो भी वैराग्यरूप मजबूत शस्त्रसे इस पेड़की* जड़ोंको काटकर उस स्थानको ढूंढना चाहिये जहांसे लौटकर नहीं आना पड़ता और यह विचार रखना चाहिये कि मेरा सहारा वही मूल पुरुष है जिससे यह सृष्टि-रचना फैली हुई है—उसीके पास मुझे जाना है।

(५) जिन्होंने मान और मोहसे निवृत्ति[१] पा ली है; जिन्होंने कर्मसंगके दोषोंको जीत लिया है; जो अध्यात्म विषयमें तत्पर हैं, सुख दुःखका जिनपर कोई असर नहीं पड़ता वे मोहहीन पुरुष उस निर्विकार ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं।

वह ब्रह्मपद कैसा है ?

(६) सूर्य, अथवा चंद्रमा, या अग्निमें इतनी सामर्थ्य नहीं

* फलकी इच्छा।

१ छुटकारा।

है जो वहां भी प्रकाश फैला सके। वह स्थान ऐसा है कि जाकर वहांसे कोइ लौट नहीं आता।

(७) इस संसारमें ये जो सनातन जीव हैं वे परमात्माके ही अंश हैं। यह जीव इन्द्रियोंको और मनको अपने साथ लिये रहता है।

(८) जब यह जीव शरीर धारण करता है और जब छोड़ देता है तब वायु जिस प्रकार पुष्पोंके गन्धको लेकर चला जाता है उसी प्रकार यह जीव अपनी ईन्द्रियोंको लेकर जाता है।

(९) कान, आंख, चमड़ा, जीभ, नासिका और मनके सहारे जीव विषयोंको भोगता है।

(१०) मूर्ख लोग नहीं जानते कि जीव एक शरीरको छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करता है अथवा प्रकृतिके सत्व, रज और तम इन तीन गुणोंमें मिलकर रहता हुआ सुख दुःख अनुभव करता है। पर ज्ञानी लोग इसे समझते हैं।

(११) यत्नवान् योगी लोग इस जीवात्माको अपने आपमें देखते हैं। पर मलिन अन्तःकरण वाले मूर्ख लोग हज़ार कोशिश करनेपर भी इसे नहीं समझ सकते।

(१२) जिस तेजसे सूर्य तेजःपुंज है; जिस तेजसे सारा जगत् प्रकाशमान है; जो तेज चन्द्रमा और अग्निमें है, वह तेज मेरा ही जान।

(१२) मैं ही पृथिवी में प्रवेश कर अपने बलसे सब प्राणियोंको धारण करता हूं और शीतल चन्द्रमा होकर मैं ही सब वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूं।

---

१ भीतरी इन्द्रियोंको अर्थात् जिनसे विषय ग्रहण किये जाते हैं-बाहरी स्थूल रूप नहीं।

(१४) मैं ही जठराग्नि होकर सब प्राणियोंके शरीरमें रहता हूं; और मैं ही प्राण तथा अपान वायुके साथ मिलकर चारों प्रकारके अन्नको हज़म करता हूं।

(१५) मैं सबके हृदयमें वास करता हूं; स्मृति और ज्ञान होना तथा न होना भी मेरे ही कारण है; मै ही वेदों द्वारा जाननेकी वस्तु हूं, और मैं ही वेदोंका जाननेवाला और प्रकाश करने वाला हूं।

(१६) संसारमें दो ही पुरुष हैं। एक नाश होने वाला और दूसरा अविनाशी है। सब भूत क्षर हैं—अर्थात् नाशमान् हैं और कूटस्थ अचल अविनाशी है।

इस कथनसे यही तात्पर्य है कि प्रकृति नाश होने वाली और जीवात्मा अविनाशी है।

(१७) इस प्रकृति और पुरुषको छोड़ एक तीसरा पुरुष है जो पुरुषोत्तम है। उसे परमात्मा कहते हैं:—वह अविनाशी ईश्वर है—वही तीनों लोकोंमें प्रवेश कर संपूर्ण संसारको धारण किये हुए है।

(१८) जिस कारण मै विनाशी प्रकृतिसे परे हूं और अविनाशी जीवात्मासे ऊंचेपर हूं मुझे लोग और वेद 'पुरुषोत्तम' कहते हैं।

---

१ जठराग्नि उस अग्निका नाम है जो सब प्राणियोंके पेटमें रहता और भोजन परिपक्व करता है, जठराग्नि न हो तो किसीको भूख न लगे और खाया हुआ भी हजम न हो।

२ चार प्रकारका अन्न यह है:—भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य। जो दांतों से चबाकर खाया जाता है वह भक्ष्य, जो बिना दांत खाया जाय वह भोज्य, जो जीभसे चाटा जाता है वह लेह्य, और ऊखकी तरह जिसका रस चूसा जाता है वह चोष्य कहाता है।

(१९) जो पुरुष मोहसे छूटकर मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है वह सब कुछ जानता है और सब प्रकारसे मेरी भक्ति करता है।

(२०) हे निष्पाप अर्जुन! शास्त्रके इस गूढ़ रहस्यको, जो मैंने तुझसे कहा है, जानकर पुरुष बुद्धिमान् होता है और उसका जीवन सफल होता है।

पंद्रहवां अध्याय समाप्त।

सोलहवां अध्याय।

परमात्मा और जीवात्माके बीचमें प्रकृतिका परदा लटका हुआ है। जीवात्मा प्रकृतिका ज्ञान प्राप्त करके उसे हटा सकता है और फिर परमात्माके दर्शन कर सकता है। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान्‌ने इससे पहिले प्रकृतिके तीनों गुणोंका वर्णन कर बतलाया कि सत्वगुण ज्ञानका प्रकाश करने वाला है। प्रत्येक मनुष्यको अपने और दो गुणोंको दबाकर इस सत्वगुणको प्रधान करना चाहिये। इससे पहिले सत्वगुणके कुछ थोड़से लक्षण आ गये हैं-अब विशेष रूपसे उसकी विवेचना होगी। सत्वगुणवाले मनुष्यकी प्रकृतिको दैवी प्रकृति कहते हैं। इसी दैवी प्रकृतिके लक्षण इस अध्यायमें बतलाए जायंगे और साथ साथ तामसी लक्षण भी दिखा दिये जायंगे ताकि लोग उन आसुरी बातोंसे बचें। इस अध्यायका यही विषय है और इस लिये इसका नाम " दैवासुर संपद्विभाग योग " है।

जो पुरुष सत्वगुणी होते हैं अथवा जिनकी दैवी प्रकृति है या यों कहिये जिनके दैवी संपत्ति है उनके लक्षण श्रीकृष्ण भगवान् इस प्रकार बतलाते हैं।

(१-३) अभय (किसीसे न डरना), चित्तकी शुद्धि, सत्यासत्यका विचार, दान, इंद्रियोंका दमन, यज्ञ (निष्काम भावसे लोकोपकार करना), वेदोंका अध्ययन, तप, सीधापन (किसीसे छल कपट न करना), अहिंसा (किसी जीवको कष्ट न देना), सत्य (सच बोलना और सच ही बर्तना), अक्रोध (क्रोध न करना), त्याग (उदारता रखना), शान्ति, चुगली न खाना, सब प्राणियोंपर दया करना, विषयोंमें न फंसना, कोमल स्वभाव, बुरे कर्म करनेपर शर्मिन्दा होना, व्यर्थ ही हाथ पैर न हिलाना, अपने गुण गौरवसे तेजस्वी रहना, यथा आवश्यक क्षमा करना, आपत्ति आ पड़नेपर हिम्मत न हारना, शरीर, मन और वचनसे पवित्र रहना, किसीसे द्वेष न करना, अभिमान न करना ये सात्विक वासनावाले पुरुषके लक्षण होते हैं।

(४) दंभ अर्थात् अपने अवगुणोंको छिपाकर अपना महात्मापन प्रकट करना, दर्प अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषोंका अपमान करनेके लिये गर्व करना, अभिमान अर्थात् घमंड, अपारुष्य अर्थात् किसीका दिल दुखानेके लिये कटु वचन कहना और अज्ञान अर्थात् उलटी बुद्धि रखना ये तामसी वासना वाले मनुष्योंके दोष होते है।

(५) दैवी संपत्तिसे मोक्ष होता है और आसुरीसे बंधन होता है। हे अर्जुन ! तू शोक मत कर। क्योंकि तूने तो दैवी संपत्तिका आश्रयकर जन्म पाया है।

(६) इस लोकमें दो प्रकारके मनुष्योंकी सृष्टि है; देव और राक्षस। देवोंके संबंधमें बहुत कुछ कह चुके है; अब राक्षसों का हाल सुन।

(७) राक्षसी स्वभाववाले लोग न यह जानते है कि किस

प्रकार सुखसे सांसारिक जीवन निर्वाह करना होता है, न यह समझते है कि सन्यास क्या चीज होती है। वे न स्वच्छता-को समझते हैं, न सदाचार ही जानते हैं। उनमें सत्यता होती ही नहीं।

(८) वे संसारको मिथ्या मानते है और अप्रतिष्ठ समझते हैं अर्थात् धर्मकी व्यवस्था नहीं मानते। वे कहते हैं कि संसारका कोई ईश्वर वीश्वर नहीं है। ईश्वर और संसारसे कोई ताल्लुक नहीं है। प्राणी उत्पन्न होते है तो स्त्री पुरुषोंसे और कोई कारण नहीं।

(९) ऐसे विचारवाले लोग पापी होते हैं। उनमें सच समझनेकी बुद्धि नहीं होती। वे बेरहमीके ही काम करते हैं। ऐसे अपकारी लोग संसारका नाश करनेके लिये ही पैदा होते है।

(१०) वे लोग ऐसी इच्छाएं रखते हैं जो जल्द पूर्ण न हों; और दंभ, मान और मस्तीसे उन्मत्त हो उठते हैं। तुच्छ वस्तुओं-को भ्रमसे पूज्य मानकर वे कार्य करते हैं अर्थात् छल, कपट और झूठके सहारेसे अपना काम निकलनेकी चेष्टा करते हैं। उनके कार्य बड़े ही अपवित्र होते है।

(११) वे जबतक जीते हैं चिन्ता ही किया करते हैं। उनका बड़ा भारी उद्देश्य काम-भोग करना होता है। इसी सुख-को वे सुख समझते हैं।

(१२) वे तरह तरहकी आशाओंमें फंसे रहते हैं। वे कभी काम और क्रोधसे छुट्टी नहीं पाते और कुवासना पूरी करनेके लिये वे अन्यायसे धन इकट्ठा करना चाहते हैं।

उनके विचार बस ऐसे ही हुआ करते है—

(१३) आज यह काम तो बन गया; अब यह भी बन

जायगा। इससे इतना धन मेरे पास हो गया, इतना और मिल जायगा।

धनके विषयमें ऐसी चिन्ता करते हैं। और अब उनके क्रोध और अभिमानका भी नमूना देख लीजिये।

(१४) आज इसे तो मार लिया है—अब औरोंको भी मजा चखाऊंगा। बस फिर क्या है? मैं ही मैं हूं। मैं चाहे जो कर सकता हूं। मेरे ऐसा भी कोई सुखी और बली है?

(१५) मेरे पास धन है और लोग भी हैं। मेरी बराबरी करनेवाला है ही कौन? अब मैं यज्ञ करूगा-दान दूंगा और मौजसे दिन काटूंगा। ये उन लोगोंके विचार हैं जिनकी बुद्धि अज्ञानसे मारी गयी है।

(१६) जिनके चित्तमें तरह तरहकी भ्रमकी लहरें उठा करती हैं और जो अज्ञान रूप जालमें और भोगोंमें सदा फंसे रहते हैं वे बड़े ही घोर नरकमें जा गिरते हैं।

और तो क्या; उनका शरीर ही उनके लिये नरक बन जाता है।

(१७) ये लोग अपनी ही प्रशंसामें मगन रहते हैं; बड़ोंकी इज्जत नहीं करते; धन, मान और गर्वसे फूले रहते हैं और अपनी धार्मिकता दिखानेके लिये एकाध यज्ञ कर डालते हैं अर्थात् वह यज्ञ विधि संगत नहीं हो सकता।

(१८) अहंकार, बल दर्प, काम और क्रोधकी मात्रा यहां-तक बढ़ जाती है कि ये निन्दक लोग अपनी और दूसरेकी देहमें जो एक परमात्मा है उसको भूलते हैं-उसका द्वेष करते हैं।

(१९) उन क्रूर स्वभाव वाले द्वेषी और नीच लोगोंको मैं सदा ही संसारकी आसुरी योनिमें ही जन्म देता हूं।

(२०) हे कुन्तिपुत्र! आसुरी योनिमें जन्म पाकर ये मूढ़

असुर लोग बार बार जन्म लेते हैं पर मुझे न प्राप्त कर नीचसे और भी नीच गतिको प्राप्त होते हैं।

(२१) हे अर्जुन! काम (इंन्द्रियों द्वारा विषय-भोगकी इच्छा), क्रोध (जरा जरासी बातपर आग बबूला हो उठना) और लोभ, ये नरकके तीन दरवाजे हैं। इसलिये इन तीनोंको दूरसे नमस्कार करना चाहिये।

(२२) नरकके इन तीन दरवाजोंसे जो मनुष्य बचता है वह अपनी भलाई करता हुआ मुक्ति लाभ करता है।

(२३) जो शास्त्रकी मर्यादाको तोड़ कर अथवा वेदकी आज्ञाको तुच्छ समझकर मनमानी घरजानी करता है उसका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता—उसे सुख नहीं मिलता—मोक्ष तो दूर रहा।

(२४) इसलिये कार्य अथवा अकार्य समझानेके लिये शास्त्रको देखना चाहिये। शास्त्र जैसा कहें वैसा करना ही उचित है।

सोलहवां अध्याय समाप्त।

सत्रहवां अध्याय।

इस अध्यायमें श्रद्धाका वर्णन है। भोजन, यज्ञ, तप और दानका भी इसमें वर्णन है। और इसके सिवाय ॐ तत् सतकी महिमा भी गायी गयी है। पिछले अध्यायमें श्रीकृष्णने कहा था कि जो लोग शास्त्रकी मर्यादाको तोड़कर मनमाना व्यवहार करते हैं वे लोग किसी कामके नहीं होते; इसलिये शास्त्रकी आज्ञाका पालन सर्वथा कर्तव्य है। परन्तु ऐसे भी बहुतसे लोग होते है जिनका धर्म "मनःपूतं समाचरेत्" होता है। वे शास्त्र

ग्रन्थ नहीं देखते; पर वे जो पवित्र कार्य समझते हैं—यह समझना चाहे उनकी भूल हो-उसीको श्रद्धासे करते हैं। उस कुरूक्षेत्रके युद्धमें हो, हो सकता है कि, कौरव पांडवोंसे लड़ना अपना कर्तव्य समझते हों और श्रद्धासे लड़नेके लिये तैयार हुए हों, इसलिये यह प्रश्न उठता है कि यह कैसी श्रद्धा है और इसका क्या परिणाम है। श्रीकृष्ण भगवान् इस अध्यायमें इस विषयका खुलासा करेंगे; इसलिये इस अध्यायका नाम 'श्रद्धात्रय विभाग योग' है।

अर्जुनने पूछा:-

(१) जो लोग शास्त्र विधिकी परवाह नहीं करते-पर जो कुछ करते श्रद्धाके साथ करते है उनकी यह कैसी श्रद्धा है? सात्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी?

श्रीकृष्ण कहते हैं:—

(२) मनुष्योंमें तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है:-सात्विकी, राजसी और तामसी। और यह स्वाभाविक होती है। हर एकके विषयमें मैं अब कहता हूं।

(२) हे अर्जुन! सब किसीकी श्रद्धा अपनी अपनी प्रकृतिके अनुकूल होती है। मनुष्यमें श्रद्धा होती है, पर जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बनता है।

(४) जिनमें सात्विकी श्रद्धा होती है वे देवताओंको पूजते हैं; राजसी श्रद्धावाले लोग यक्ष राक्षसोंकी पूजा करते हैं, और तामसी प्रकृति वाले भूत प्रेतों और तामसी योनियोंकी पूजा करते हैं।

जो मनुष्य जैसा होता है वह वैसे की ही पूजा करता है; और जैसेकी पूजा करता है वैसा ही बन जाता है।

(५-६) जो लोग ऐसे कठोर तप[1] करते है, जिनका वेद-शास्त्रोंमें विधान नहीं है वे पाखंडी, अहंकारी, और गुलछर्रे उड़ाने वाले लोग हैं। इनमें बुद्धि नहीं होती। ये लोग शरीरमें जो पंच महाभूत हैं उनको क्षीण करते हैं। और उनके शरीरमें जो परमात्मा है उसे भी कष्ट देते हैं। ऐसे लोगोंको असुर समझना चाहिये।

(७) इन तीन स्वभाववालोंके आहार, यज्ञ, दान और तप भी अलग अलग होते हैं। वे सब भी तीन तीन प्रकारके हैं। उनका भी हाल सुन।

(८) सात्विक लोग आयु, उत्साह, पराक्रम, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता बढाने वाला रसीला, चिकना और शरीर वलिष्ठ करनेवाला भोजन पसंद करते है।

(९) राजसी लोग तीता, खट्टा, खारा, गरमागरम, चटपटा, रूखा, पेटमें गरमी पैदा करनेवाला और इसी प्रकारका दुःख, शोक और रोग बढ़ाने वाला भोजन करना पसंद करते हैं।

(१०) तामसी लोगोंको ठंडा, बासी, नीरस, सड़ाबूसा, बहुत देरका रखाहुआ, जूठा और अपवित्र भोजन प्यारा लगता है।

यज्ञ भी तीन प्रकारके होते हैं। उनका वर्णन सुनिये:।

(११) वह यज्ञ जो शास्त्रोंके अनुकूल हो और अवश्य कर्तव्य समझकर किसी फलकी इच्छासे नहीं बल्कि कर्तव्यके लिये ही किया जाता है वह सात्विक यज्ञ है।

उसी प्रकार कोई कार्य जो कर्तव्य समझकर किया जाता है

---

१ वृथा मौन रहना, कांटोंपर सोना, कीलोंपर बैठना, पेडोंमें लटकना, चोंगे ओर आग सुलघाकर बीचमें बैठना इत्यादि इसी मेलके तप हैं। ऐसे तप करने वालोंसे बचना चाहिये।

वह सात्विक कार्य है।

(१२) जो यज्ञ फलकी इच्छासे अथवा लोगोंको अपनी बड़ाई दिखानेके लिये किया जाता है वह राजसी यज्ञ है।

(१३) जो यज्ञ शास्त्रके विरुद्ध, बिना मंत्र उच्चारण किये, बिना अन्न अथवा बिना दाक्षिणा दिये, अथवा बिना श्रद्धाके किया जाता है वह तामसी यज्ञ है।

अब तपका वर्णन सुनिये।

देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्य मर्हिसा च शारीरं तपउच्यते॥ १४॥

(१४) देव, ब्राह्मण, गुरुजन, तथा बुद्धिमानोंका पूजन और पवित्रता, सीधापन, ब्रह्मचर्य, अहिंसाका आचरण शारीरिक (शरीरसे होनेवाला) तप कहाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्य प्रियहितं च यत्।
स्वाधायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

(१५) ऐसा भाषण करना कि जिससे किसीका दिल न दुखे, सच्ची, प्यारी और हितकी बात कहना, और वेदोंका अध्ययन करना वाङ्मय (वाणीसे होने वाला) तप कहाता है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ १६॥

(१६) मनको प्रसन्न रखना, सौम्य रहना, फ़जूल न बोलना, मनको काबूमें रखना और मनमें पवित्र भाव लाना मानस (मनसे होने वाला) तप कहाता है।

(१७) जब ये तीन प्रकारके तप बड़ी श्रद्धाके साथ फलकी इच्छा छोड़ कर किये जाते हैं तब उनको सात्विक तप कहते हैं।

(१८) जो तप अपने सत्कार, मान, बड़ाईके लिये ढोंगसे किया जाता है उस चंचल तपको राजस तप कहते हैं।

(१९) जो तप हठ अथवा दुराग्रहसे, निजको कष्ट देकर अथवा दूसरोंको अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है उसको तामस तप कहते हैं।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनूपकारिणे।
देशेकाले च पात्रे च तद्दानं सात्विकंस्मृतम् ॥ २० ॥

(२०) जो दान योग्य व्यक्तिको देश और काल देखकर, कर्तव्य समझकर, न कि उसका बदला पानेकी इच्छासे-दिया जाता है उसको सात्विक दान कहते हैं।

इस सात्विक दानको समझानेकी इस समय बड़ी आवश्यकता है। जो लोग इस प्रकारका दान नहीं देते वे फजूल रुपया खर्च करते हैं। देश, काल और पात्र देखकर दान देना चाहिये। वर्तमान समयमें हमारे देशवासियोंको यदि किसी चीज़की बड़ी भारी जरूरत है तो ऐसी दो चीजें हैः एक विद्या और दूसरा अन्न। इस देशमें दानी कहलानेवाले लोग भी हैं। परन्तु जबतक इन दो चीजोंकी कमी है तबतक कौन कह सकता है कि दानी देश, काल और पात्र सोचकर दान देते हैं? आतशबाजियोंमें रुपया उड़ जाता है; दावतोंमें और अयोग्य व्यक्तियोंको खिलाने पिलानेमें सब धन स्वाहा हो रहा है तब उन दीन दुखियोंकी कैसी दुर्दशा होती होगी जिन्हें न पेटभर खानेको अन्न मिलता है, न अपने रातदिनके परिश्रमसे पैदा किया हुआ अन्न कहां जाता है इसका पता ही लगता है। जिन लोगोंमें अब भी कुछ मनुष्यत्व रह गया है उनको श्रीकृष्ण भगवान्की दानकी व्याख्या देखकर अपने दानकी दिशा बदल देनी चाहिये।

श्रीमत् शंकराचार्य कहते हैं:-"देयं दीन जनाय च वित्तम्।" यदि आपके पास धन है तो उसपर उन्हीं लोगोंका अधिकार है जो दीन हैं। धन देने योग्य यदि काई व्यक्ति है तो वह दीन है। भारतवर्षमें करोडों दीनोंकी संख्या रहते हुए भी अभीतक धनका बड़ा दुरुपयोग हा रहा है।

दानोंमे सबसे बड़ा दान विद्यादान है। और भारतवर्षमें इसका बड़ा अभाव है। लोग मूर्ख हैं इसीलिये शरीर और आत्माका संबंध कायम रखने लायक भी अन्न मिलना कठिन हो रहा है। शिक्षाप्रचारकी बड़ी आवश्यकता है। इससमय सचमुच जो शिक्षाप्रचारका काम उठावेगा वह सच्चा सात्विक दानी होगा।

(२१) जो दान किसी उपकारके बदलेमें, या किसी फलकी इच्छासे दिया जाता है; अथवा जिस दानके देनेसे दुःख होता है वह दान राजस दान है।

(२२) जो दान देश और कालका विचार न कर किसी नालायक आदमीको अनादर अथवा झिड़क करके दिया जाय उसको तामस दान कहते हैं।

अब ईश्वरके तीन नामोंका वर्णन होकर यह अध्याय समाप्त होगा।

(२३) ॐ तत्, सत् ये तीन ब्रह्मके नाम हैं। उसी ब्रह्मने पहले ब्राह्मण (ब्राह्मक्ष), वेद और यज्ञ बनाए।

(२४) इसलिये ब्रह्मवादी लोग ॐ इस शब्दका उच्चारण करके फिर शास्त्रोक्त यज्ञ, तप, दान आदि क्रियाएं करते हैं।

अर्थात् कोई कार्य करनेके आरंभ में ॐ शब्दका उच्चारण कर परमात्माका स्मरण करना चाहिये।

(२५) जो लोग मोक्ष छोड़ और किसी वस्तुकी कामना

नहीं करते वे यज्ञ, दान, तपादि क्रियाओंको करते हुए, तत् इस शब्दका उच्चारण करते हैं।

'तत्' का उच्चारण करनेसे यह मतलब है कि वे अपने सारे कर्म तत् अर्थात् उस ब्रह्मको अर्पण करते हैं।

(२६) अच्छा भाव और सत्यता प्रकट करनेके लिये 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है। मंगलकार्योंमें भी इस 'सत्' का उच्चारण होता है।

(२७) यज्ञ, दान और तपके प्रति जो निष्ठा है उसे भी सत् कहते हैं और यज्ञ, दान, तपके लिये जो जो कर्म किये जाते हैं उनको भी सत् (सत्कर्म) ही कहते है।

(२८) बिना श्रद्धाके जो होम, दान अथवा तप किया जाता है उसे असत् कहते है। ऐसा कर्म न इस लोकमें काम आता है न उस लोकमें।

सत्रहवां अध्याय समाप्त।

अठारहवां अध्याय।

इस 'मोक्ष-सन्यास-योग' नामक अध्यायमें श्रीकृष्ण भगवान् पिछले सतरहों अध्यायोंका उपसंहार करेंगे। सन्यास और त्याग किसका कहते हैं? कर्म छोड़ना आवश्यक है या नहीं? त्यागके कितने प्रकार हैं? त्यागी कौन है? कर्मके कौन कौन परिणाम हैं? कर्मका कारण क्या है? ज्ञान और ज्ञानके लक्षण क्या हैं? कर्मके कौन कौन भेद हैं? बुद्धि क्या है और उसके कौन कौन भेद हैं? धृति किसको कहते हैं? उसके क्या लक्षण हैं? इत्यादि बातोंका खुलासा कर भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,

और शूद्र इन चार वर्णोंका वर्णन करेंगे। फिर अपने वर्णाश्रम धर्ममें रहनेसे लाभ, दूसरेके धर्मसे हानि और मुक्तिका उपाय तथा भक्तिका फल प्रतिपादन करेंगे। इसके उपरान्त अर्जुन-को युद्ध करनेका उपदेश देकर गीतापाठ करनेके पात्रापात्रका विचार कर अन्तमें गीतापाठ तथा श्रवणका फल कथन करेंगे।

सन्यासके विषयमें अर्जुनके मनमें अभी सन्देह है। इसलिये वह प्रश्न करता है:—

(१) हे हृषीकेश ! हे विशालभुजावाले कृष्ण ! हे केशि-निषूदन ! मैं सन्यास और त्यागको अलग अलग समझना चाहता हूं।

श्रीकृष्ण कहते हैं:

(२) आत्मज्ञानी लोग काम्य कर्म (अश्वमेधादि यज्ञ) छोड़ देनेको सन्यास कहते हैं। बुद्धिमान् लोग सब कर्मोंके फलोंको त्याग देना ही त्याग समझते हैं।

(३) कुछ ज्ञानी लोग कर्मोंको दोषपूर्ण समझते हुए छोड़ देना ही अच्छा समझते हैं। और कुछ लोग यज्ञ, दान, तप आदि कर्मोंको न छोड़ना ही उचित मानते हैं।

(४) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उस त्यागके विषयमें मेरी राय सुनो। त्याग तीन प्रकारका बतलाया गया है।

त्यागके तीन प्रकार बतलानेसे पहिले श्रीकृष्ण भगवान् कर्म

---

१ केशि नामक दैत्यको श्रीकृष्णने मारा था इसलिये उनका यह भी एक नाम पड़ा।

२ काम्य कर्म उसे कहते हैं जिसमें किसी फलविशेषकी इच्छा हो।

३ सन्यासका यहां सन्यास आश्रमसे मतलब नहीं है। छठे अध्यायके १ ले श्लोकमें सन्यासीकी यह व्याख्या है:—"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः स सन्यासी"। उसी सन्यासीके सन्यासले यहां मतलब है।

करना चाहिये अथवा नहीं इस विषयमें अपनी अटल सम्मति प्रकट करते है।

यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

(५) यज्ञ, दान, और तप इन कर्मोंको कदापि त्याग न करना चाहिये। ये कर्म करने ही योग्य हैं, क्योंकि इनसे मनुष्य पवित्र होते है।

(६) ये कर्म भी संग और फलको छोड़कर करना उचित है। यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है।

(७) नियत कर्मोंका त्याग करना ठीक नहीं है। यदि कोई ऐसा करे तो वह भूलता है। इस त्यागको तामस त्याग कहते हैं।

(८) जब शरीरको कष्ट होते हैं और इन कष्टोंसे बचनेके लिये कर्मोंका त्याग किया जाता है तो वह राजस त्याग है। उससे त्यागका जो फल है वह नहीं मिलता।

(९) संग और फलको छोड़कर कर्तव्यके खयालसे जब कर्म किया जाता है तो वह संग और फलका त्याग ही सात्विक त्याग है।

कर्तव्य कैसा ही हो—चाहे उसके करनेमें जानका खतरा हो चाहे आनन्द आता हो—उस आनन्द और क्लेशकी परवा न कर उसे करना चाहिये। यही निःसंग होना है।

(१०) अकुशल कर्म हो तो क्या और कुशल हो तो क्या उसमें फंसना न चाहिये। अकुशलसे न दुःखी होना चाहिये न कुशलसे सुखी। आत्माका ज्ञान रखनेवाले त्यागी पुरुष इसी दृष्टिसे कर्म करते है और उनका संशय दूर हो जाता है।

(११) देह धारण करनेवाले जीवके लिये यह कदापि

संभव नहीं है कि वह काम करना छोड दे; पर जो पुरुष काम करता हुआ उसके फलाफलको छोड़ देता है वही सच्चा त्यागी है।

(१२) कर्मोंके फल तीन प्रकारके होते हैं:—अनिष्ट, इष्ट और मिश्र। जो लोग फलकी इच्छा नहीं छोड़ते उन्हें इन फलोंको इस जन्मके बाद भोगना पड़ता है; परन्तु त्यागीके लिये कोई भोग नहीं है।

(१३-१४) हे अर्जुन! अब सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये आवश्यक उन पांच कारणोंको सुन जिनका उल्लेख सांख्य और वेदान्तमें हो चुका है। वे पांच कारण ये हैं; अधिष्ठान (शरीर), कर्ता (जीव), करण (इन्द्रियां), नाना प्रकारकी चेष्टाएं (प्राण, अपान आदि वायुओंकी) और दैव।

(१५) मनुष्य अपने शरीर, वाणी और मनसे जो कोई कार्य करे वह कार्य अच्छा हो या बुरा—उसके ये ही पांच कारण हैं।

(१६) ऐसा होनेपर भी (कुछ न करनेवाले) आत्माको ही जो मनुष्य सब कुछ करनेवाला समझता है वह बुद्धिहीन और दुर्मति होनेके कारण कुछ नहीं समझता।

(१७) जिसमें अहंकार भाव नहीं है अर्थात् जो यह नहीं समझता कि मैं यह कर्म कर रहा हूं और जो काम करता हुआ किसी बातकी इच्छा नहीं रखता वह इन लोगोंको मारकर भी नहीं मारता और न इसके लिये वह जवाबदेह है।

(१८) ज्ञान, ज्ञानका विषय और ज्ञानी इन तीन बातोंसे ही कर्ममें प्रवृत्ति हुआ करती है। कर्मके साधन भी तीन हैं:-करण (इन्द्रिय), कर्म और कर्ता।

(१९) सांख्य शास्त्रमें ज्ञान, कर्म और कर्ता भी तीन तरहके

लिखे गये हैं। उनके अलग अलग लक्षण हैं। उनको भी क्रमसे कहता हूं; सुन।

(२०) जिस ज्ञानको प्राप्तकर पुरुष सब भूतोंमें-ब्रह्मासे लेकर छोटे छोटे जीवोंतक-एक ही भाव-एक ही परमात्मा देखता है वह ज्ञान सात्विक ज्ञान है।

(२१) जिस ज्ञानसे सब भूतोंमें-भिन्न भिन्न प्राणियोंमें-भिन्न भिन्न भाव दिखाई दे वह राजस ज्ञान है।

(२२) जिस ज्ञानसे पुरुष विनाकारण एकही वस्तुपर प्रेम करता है-उसी वस्तुको अपना सर्वस्व समझ लेताहै-दृष्टिको नहीं फैलाता और सिद्धान्तको नहीं समझता-वह तामस ज्ञान है।

अव कर्मोंके तीन भेद सुनियेः

(२३) सात्विक कर्म वह है जो शास्त्रोक्त हो-संगसे रहित हो—और राग तथा द्वेष छोड़कर-फलकी इच्छा त्यागकर किया जाय।

(२४) राजस कर्म वह है जो किसी इच्छाको पूरी करनेके लिये अथवा अपना वड़प्पन दिखानेके लिये, या दुःखी होकर किया जाय।

(२५) तामस कर्म वह है जो भले बुरे परिणामका, यह काम करनेसे किसीका कुछ नुकसान तो नहीं है-इससे किसी को हानि तो नहीं पहुंचती-मैं यह कार्य करनेमें समर्थ हूं या नहीं इन बातोंका विचार न करके किया जाय।

कर्ताके तीन भेदः—

(२६) जव काम करनेवाला यह समझे कि यह काम तो मेरे हाथों हो रहा है पर इससे मेरा रागद्वेष नहीं, मै नहीं मेरी इन्द्रियां इसे कररहीं हैं; इस बुद्धिके साथ साथ उसमें कार्य

करनेकी शक्ति और उत्साह हो तब वह कर्ता सात्विक कहाता है।

(२७) जब काम करनेवाला उस कामसे प्रीति रखता हो और उसका फल पानेके लिये तरसता हो, लालची, नुकसान करनेवाला, अपवित्र और सुख दुःखमें फंसनेवाला हो तब उसे राजस कर्ता कहते हैं।

(२८) जो मनुष्य मन लगा कर काम नहीं करता, शरीर-सुखको सुख मानता है, हठ और ढिठाई करता है, दूसरोंको धोखा देता और ठगता है, आजका काम कलपर छोड़ देता है-काम करना ही नहीं चाहता; सदा दुःखी रहता है और जरासे काममें ही सारा समय नष्ट कर देता है ऐसा कर्ता तामसी कहलाता है।

(२९) बुद्धि और धृतिके भी गुणोंके अनुसार तीन भेद हैं। उनका भी अलग अलग और सविस्तर वर्णन सुनाता हूं।

बुद्धिके तीन भेद:—

(३०) प्रवृत्ति अर्थात् गृहस्थका जीवन क्या है? और निवृत्ति अर्थात् सन्यासीका जीवन क्या है? इसी प्रकार क्या कर्तव्य है और क्या करना पाप है? इन बातोंको और भय और अभय, गुलामी और स्वतंत्रताका रहस्य जो बुद्धि समझती है वह सात्विक बुद्धि है।

(३१) जिस बुद्धिसे धर्म क्या है और अधर्म क्या है-कौन कार्य करना उचित है और कौन नहीं-यह ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता वह राजसी बुद्धि है।

(३२) अंधकारमें फंसी हुई जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती और सब बातोंको उलटी ही देखती है वह बुद्धि तामसी बुद्धि है।

धृतिके[1] तीन भेद:—

---

१ धारता।

(३३) जिस धृतिसे पुरुष अपने मन, श्वास (सांस) और इंद्रियोंको एक साथ एकाग्र कर समाधिके योग्य बना सकता है वह सात्विकी धृति है।

(३४) जिस धृतिसे अपने कर्मसे फल पानेकी इच्छा रखने-वाला पुरुष अपने धर्म, अर्थ और काम तीन पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेके लिये कटिबद्ध रहता है वह राजसी धृति है।

(३५) जिस धृतिको रखकर कोई दुर्बुद्धि मनुष्य अपनी सोने-की आदत, डर, रंज, निराशा और मूर्खताको नहीं दूर कर सकता वह तामसी धृति है।

तीन प्रकारके सुखः—

(३६-३७) हे भारतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब तीन प्रकारका सुख भी सुन ले। एक वह सुख है जो योगके अभ्याससे मिलता है और जिससे सारे क्लेश दूर हो जाते है। आरंभमे तो वह सुख जहरका प्याला मालूम होता है पर अन्तमें वही अमृत-का काम करता है। इस प्रकार आत्माका ज्ञान होनेपर पुरुष जो प्रसन्नता लाभ करता है वह सात्विक सुख है।

(३८) आरंभमें तो अमृतके समान सुख देनेवाला पर पीछे-से विषके समान जान लेनेवाला सुख राजस सुख है। यह सुख इंद्रियके विषयभोगसे उत्पन्न होता है।

इस संसार और परलोकमें जो मनुष्य सुखी होना चाहता है उसे ये चार पुरुषार्थ प्राप्त करने पडते हैं: धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। नित्यके धार्मिक कर्म, शरीरकी रक्षा, और दूसरोंके प्रति कर्तव्य पालन करना पहिला धर्म है। अपना जीवन निर्वाह करने और दान धर्म पालन करनेके लिये दूसरे पुरुषार्थकी आवश्यकता है। तीसरा पुरुषार्थ सदिच्छाओंको पूरा करना है। चौथा पुरुषार्थ मोक्ष अर्थात् सब प्रकारकी स्वतंत्रता है जो पहिले तीन पुरुषार्थोंकी सिद्धिसे प्राप्त होती है।

(३९) जो सुख आरंभसे अन्ततक आत्माको भ्रममें फंसाए रहे वह तामस सुख है। ऐसा सुख निद्रा, आलस्य और बेपरवाहीसे मिला करता है।

(४०) इस संसारमें, अथवा देवताओंके देवलोकमें ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इन सत्व, रज, तमसे अलग हो।

इन्हीं तीन गुणोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रका नामाभिधान हुआ है।

(४१) हे परंतप! ब्राह्मण[1], क्षत्रिय[2], वैश्य[3] और शूद्र[4] इन चारों वर्णोंके स्वाभाविक गुणोंके अनुसार ही उनके कर्तव्य बांधे गये है।

ब्राह्मणके लक्षण:—

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ ४२॥

(४२) मनको शुद्ध रखना, इंद्रियोंको विषयोंसे खींचना, तप[5], शरीर और मनको पवित्र रखना, क्षमा करना, सीधापन, शास्त्रोंका ज्ञान, परमार्थ संबंधी विशेष ज्ञान, ईश्वर और वेदोंमें श्रद्धा ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।

क्षत्रियके लक्षण:-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ ४३॥

(४३) क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म ये है; वीरता, तेजस्विता,

१ ब्रह्मका ज्ञान रखनेवाला। २ क्षत् अर्थात घावको भरनेवाला।
३ संसारमें व्यापारसे प्रसिद्ध होनेवाला। ४ दासता करनेवाला।

५ सत्रहवें अध्यायके १४,१५ और १६ और १७ वें श्लोकमें शारीरिक वाङ्मय और मानसिक तथा सात्विक तपका वर्णन है। उसी तपसे यहां मतलब है।

धीरता, निपुणता और युद्धमें पीठ न दिखाना, दीनोंको दान देना और ईश्वरमें श्रद्धा रखना।

वैश्यके लक्षणः-

कृषिगोरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

(४४) १-खेती करना, गौकी रक्षा करना, और संसारभर व्यापार फैलाना वैश्यका स्वाभाविक काम है।

शूद्रके लक्षणः-

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

२-उक्त तीनों वर्णोंकी दासता कर सहायता देना शूद्रका स्वाभाविक काम है।

गीताधर्मके अनुसार चारों वर्णोंके स्वाभाविक कार्य आपने देख लिये। क्या ये कार्य अब हो रहे हैं? अगर नहीं तो स्वाभाविक कार्योंको छोड़नेवाले वर्ण फिर कैसे स्वाभाविक रह सकते हैं? ब्राह्मणका स्वाभाविक काम जो ब्राह्मण नहीं करता वह स्वाभाविक ब्राह्मण नहीं है—वह ब्राह्मणपदसे च्युत है उसे ब्राह्मण मानना अपनी बुद्धिका दुरुपयोग करना है। जो क्षत्रिय क्षत्रियका कार्य नहीं करता वह क्षत्रिय नाममात्रका है। जो वैश्य व्यापार द्वारा संसारमें अपने देशकी प्रतिष्ठा नहीं करा सकता वह वैश्य नहीं - वैश्यका टूटा फूटा निशान है।

यह माना कि समय बदल गया है। श्रीकृष्णके समयमें जो देशकी दशा थी वह आज नहीं है। यह भी माना कि समयके परिवर्त्तनके साथ साथ धर्म भी बदलता जाता है। परन्तु समयको देखकर ही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपना अपना काम ठीक तरहसे नहीं कर रहे हैं!

क्या यह ऐसा समय है कि ब्राह्मण, शम दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव, ज्ञान विज्ञान और आस्तिकताका प्रचार नहीं कर-

सकता ? ब्राह्मण कहलाना तो बहुत आसान हो गया है पर ब्राह्मणपर कितनी जिम्मेदारी है इसका कोई खयाल नहीं ! जो ब्राह्मणकुमार अपनी जिम्मेदारीको नहीं निबाहता उसके लिये कुछ दूसरी ही संज्ञा है !

क्या क्षत्रिय अपने धर्मका पालन नहीं कर सकते ? खूनका दर्या बहानेकी जरूरत नहीं है। पर जीवन संग्रामसे मुंह मोड़ने वाले क्षीणकाय कंगाल देशभाइयोंका सेनापतित्व ग्रहण करनेके लिये क्षत्रिय खूनकी जरूरत है। रणभूमिमें अपने शस्त्रोंका विद्युत्प्रकाश दिखानेका मौका नहीं है पर परमुखके निहारनहारोंमें मर्दाना बाना लानेके लिये क्षत्रिय तेजकी आवश्यकता है। क्षत्रियके घर जन्म लेनेसे ही कोई क्षत्रिय नहीं हो जाता। क्षत्रियके कर्मसे ही सच्चा क्षत्रिय होता है।

वैश्योंका कर्म क्या और वे कर क्या रहे है ? कृषि, गोरक्षा, और वाणिज्य ये उनके तीन प्रधान कर्म है। पर इनमेंसे एक भी उनसे नहीं बन पड़ता। वाणिज्य इस देशसे उठ ही गया है। आजकल प्रायः दलाली होती है—दूसरोंसे माल खरीदते और यहां बेचते हैं। यह वाणिज्य नहीं है। अपनी वस्तु आप तैयार करना और उसे बेचना वाणिज्य कहलाता है। क्या समय इतना विपरीत है कि लोग वाणिज्य नहीं कर सकते ?

गोरक्षाके विषयमें कैसी उदासीनता फैली हुई है ! प्रत्येक हिन्दू गौको माता मानता और नित्य स्मरण करता है। पर गौओंकी कैसी दुर्दशा है ! जिन लोगोंने गौको माता मानना सिखाया उन्होंने इस देशपर बड़ा भारी उपकार किया है। और क्या सचमुच ही गौ माता नहीं है ? जिस गौकी सन्तानोंकी सहायताके विना आप अन्न नहीं पैदा कर सकते; जिस गौका दूध पीकर आप और आपके बाल बच्चे हृष्ट पुष्ट हो सकते हैं;

जिस गौका मल मूत्र भी आपको निरोग और आपके स्थानकी हवा शुद्ध करता है वह परम उपकारी गौ, माता नहीं तो क्या है? वह हमारे जीवनके लिये परमावश्यक है। भारत जैसा कृषि प्रधान देश गौके बिना कब जीवित रह सकता है? परन्तु शोक है! हम लोगोंने अभीतक अपने जीवन और जीवनके उपयोगी पदार्थोंको नहीं जाना। प्रत्येक हिन्दूपर यह लाजिम है कि वह भोजनसे पहिले गौके लिये अन्न अलग कर दे। इस अन्नको गोग्रास कहते है।

वैश्योंका धर्म है कि वे गोरक्षा करें। इस समय शान्तिपूर्वक जिस प्रकारसे हो गो-सेवा करनी चाहिये। अपने घर गाय रखकर, गोशाला खोलकर, गोग्रास नहीं तो उसके दाम गोशालाओंको देकर लोगोंको गो-रक्षाकी यथासंभव चेष्टा करनी चाहिये।

वैश्यका कर्म खेती करना है। जबसे धनवानोंने कृषिके तरफ ध्यान देना छोड़ा तबसे कृषिकी दुर्गति हुई। इस समय जो लोग अपढ़ और निर्धन हैं उन्हीं लोगोंके हाथमें खेतीकी तगदीर आ गयी है। न उन्हें कृषिशास्त्र मालूम है न कृषि उन्नतिके लिये उनके पास धन है। ऐसी अवस्थामें विद्वानोंकी सहायतासे धनवान् वैश्योंको सामने आना चाहिये। कृषि ही इस देशकी जीविका है—उसीसे हम जीवित रह सकते हैं। आज-तक उसीपर हमारा गुजारा हुआ। सरकारको कृषिसे ही सबसे अधिक आमदनी मिलती है। कृषिसे गो-रक्षा होगी—कृषिसे शरीर-रक्षा होगी-और कृषिसे ही दुर्भिक्षका नाश होगा।

'कृषितो नास्ति दुर्भिक्षम्।'

पर यह काम अपढ़ और निर्द्धनोंका नहीं। विद्वान् ब्राह्मण और धनवान् वैश्य ही इस कर सकते हैं।

सोचिये, तो ही गीतापाठसे कुछ लाभ है।

(४५) अपने अपने कर्म करनेसे ही मनुष्यको सिद्धि प्राप्त होती है। अपने काममें ही लगे रहनेसे किस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती है उसका भी हाल सुन।

(४६) जो पुरुष अपने कर्तव्य पालने द्वारा उस संसार-व्यापी जगत्पिताकी पूजा करता है वह परमात्माको पाता है।

(४७) अपने धर्ममें चाहे कोई दोष भी दिखायी दे तो भी वह दूसरेके अच्छे प्रकार किये हुए धर्मसे भी अच्छा है। अपना स्वाभाविक कर्म करनेसे मनुष्य पापका भागी नहीं होता।

(४८) अपना जो स्वाभाविक कर्म है उसमें दोष होनेपर भी उसे न छोड़ना चाहिये; क्योंकि दोष तो सभी कामोंमें होते है-जैसे अग्निमें धूआं, वैसे काममें दोष।

(४९) जिसकी बुद्धि किसी वस्तुमें नहीं फंसती—जो अपने आपको इच्छाओंसे स्वतंत्र, और स्वाधीन रखता है वह सन्यासके साथ कर्म करके वह सिद्धि प्राप्त करता है जो सन्यास-से प्राप्त होती है।

(५०) अब हे कुन्तिनन्दन ! मै यह भी संक्षेपसे बतला देता हूं कि किस तरह निष्कर्मसिद्धिको प्राप्त हुआ मनुष्य ज्ञानमय ब्रह्मको प्राप्त करता है।

(५१-५३) शुद्ध बुद्धिसे युक्त होना, आत्मिकबलसे मनको रोकना, शब्दादि विषयोंको छोड़ना, रागद्वेषको दबाना, एकान्त-में बैठनेकी आदत डालना, नियमित भोजन करनेका अभ्यास

---

१ यहां अपना कर्तव्य-पालन करनेको ही ईश्वरकी पूजा कहा है।

१ सन्यासते यहां इच्छा छोडनेका मतलब है।

२ निष्कर्मसिद्धि अर्थात् सिद्धकी वह अवसया जो कर्म और इच्छा छोड़-नेसे प्राप्त होती है।

करना, शरीर, वाणी और मनको जीतना, चित्तको ईश्वरमें लगाए रहना, चितको विषयोंसे हटाना, अभिमान, बल (धर्मके विरुद्ध) तिरस्कारके साथ अभिमान, काम, क्रोध, भोगके साधन, ममता और अशान्तिको छोड़ना—इतनी बातें जब मनुष्य कर चुकता है तब वह ब्रह्मसे मिलने योग्य बनता है।

(५४) ब्रह्म-विचारमें मगन रहनेवाला प्रसन्नचित्त पुरुष न कभी दुःखी होता न किसी बातकी इच्छा रखता है। वह सारे प्राणियोंको एक दृष्टिसे देखता हुआ मेरी उत्तम भक्ति प्राप्त करता है।

(५५) उस भक्तिसे वह पुरुष परमात्माका वास्तव रूप जान लेता है और फिर परमात्माको पा लेता है।

(५६) संसारके सब काम करते हुए मेरा आश्रय ग्रहण करनेसे पुरुष मेरी कृपासे मेरे निरंतर और अविकार पदको पाता है।

(५७) अपने सब कामोंको कर—पर उन्हें मुझे अर्पण कर दे। मत्पर हो और इसी प्रकार ज्ञानयोगका आश्रय कर चित्तको मेरी तरफ लगा।

(५८) मेरी तरफ चित्त लगानेसे सब विघ्नोंको तू पार कर जायगा। पर यदि अहंकारवश तू न मानेगा तो तेरा नाश होगा।

(५९) अहंकारके वश अगर तू अब भी युद्ध न करना ही निश्चय करे तो तेरा यह निश्चय किसी कामका नहीं, क्योंकि तेरा क्षत्रियस्वभाव ही तुझसे युद्ध करावेगा।

(६०) हे कुन्तिपुत्र ! इस समय भ्रमके कारण जो युद्ध तू नहीं करना चाहता वही युद्ध तुझे अपने कर्मके बंधनसे

और धर्मेश्वर चिन्तामें तत्पर।

वेवस हो करना पड़ेगा।

(६१) हे अर्जुन! प्राणीमात्रकी देहमें ईश्वर वास कर रहा है। उसीकी मायासे सब प्राणी किसी कलके पुर्जोंके समान काम कर रहे हैं।

(६२) उस ईश्वरकी शरण ले। उसकी कृपासे तुझे उत्तम शान्ति और उत्तम स्थान प्राप्त होगा।

(६३) यह ज्ञान मैंने तुझे बतलाया है। यह गूढ़से भी गूढ़ ज्ञान है। इसपर अच्छी तरह विचार कर ले। फिर जो तेरी इच्छी हो, कर।

(६४) मैं फिर वह गूढ़से भी गूढ़ बात खोलकर तुझसे कहता हूं। सुन; तू मेरा प्यारा है और तेरा मन मजबूत है, इसलिये मैं हितकी बात कहता हूं।

(६५) अपने मनको मेरी तरफ लगा; मेरा भक्त बन, मेरी ही भक्ति कर; मुझे ही नमस्कार कर; मैं तुझसे कह देता हूं कि तू मेरे पास आवेगा; क्योंकि तू मेरा प्यारा है।

(६६) सब धर्मोंको छोड़ एक मेरी शरण ले; दुःख मतकर; मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त करूंगा।

गीता पढ़नेका अधिकार किसको है ?

(६७) हे अर्जुन! यह जो कुछ तुझे मैने बतलाया है वह किसी विषयलंपट मनुष्यसे न कहना और जो ईश्वरका भक्त न हो, जो ऐसे उपकारी वचन सुनना न चाहता हो अथवा जो मेरी निन्दा करता हो उसको भी कभी यह ज्ञान न बतलाना।

गीता प्रचारका उपदेशः—

(६८) इस बड़े गूढ़ ज्ञानका जो पुरुष मेरे भक्तोंमें प्रचार करेगा (मै समझूंगा कि,) वह मेरा बड़ा भक्त है और वह मुझे

१ गीता शास्त्र।

प्राप्त करेगा।

(६९) मनुष्योंमें कोई भी इससे बढ़कर मेरे लिये काम नहीं करसकता और मैं भी इस लोकमें उससे बढ़कर किसीको प्यार नहीं कर सकता।

गीता पाठका फलः—

(७०) हे अर्जुन! हम लोगोंके इस धर्म कर्म संबंधी संवादको जो (मन लगाकर तथा अर्थ समझ कर) पढ़ेगा वह अपने इस ज्ञानयज्ञसे मुझे प्रसन्न करेगा। यह मेरा मत है।

गीता पाठ सुननेका फलः—

(७१) जो श्रद्धावान् और निन्दा न करनेवाला पुरुष गीतापाठ सुनकर मनन करेगा वह भी मुक्त होगा और पवित्रात्माओंके पुण्य लोकमें स्थान पावेगा।

(७२) हे पार्थ ! क्या तूने मन लगाकर इस गीता शास्त्रको श्रवण किया ? क्या तेरा अज्ञानसे पैदाहुआ भ्रम दूर हो गया ?

अर्जुनने कहाः—

(७३) हे अच्युत ! मेरा मोह नष्ट हो गया; तुम्हारी कृपासे मुझे धर्मका रहस्य मालूम हुआ। मेरा सन्देह जाता रहा। जो तुम आज्ञा दो मैं करनेके लिये तैयार हूं।

संजयने कहा.—

(७४) हे धृतराष्ट्र ! श्रीकृष्ण वासुदेव और महात्मा पार्थका यह अद्भुत और रोमांचित करनेवाला संवाद मैंने सुना।

(७५) साक्षात् योगेश्वर श्रीकृष्णके मुखसे यह कर्मयोगका उपदेश मैंने व्यासजीकी कृपासे सुन लिया।

(७६) हे राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस अद्भुत और पवित्र उपदेशका बार बार स्मरण आकर बड़ा हर्ष होता है।

(७७) और हे पृथ्वीनाथ ! श्रीकृष्ण भगवान्‌का वह बड़ा अद्भुत रूप भी वार वार आखोंके सामने आता है जिससे बड़ा आश्चर्य और हर्ष होता है ।

गीताशास्त्र आरंभसे अन्त तकसुनकर और श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको पहिचान संजय अपना यह मत प्रगट करते हैः—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

(७८) जिस पक्षमें योगशास्त्र वतलानेवाले श्रीकृष्ण योगेश्वर हों और युद्ध करनेके लिये पराक्रमी धनुर्धर अर्जुन हो उस पक्षकी अवश्य जीत होगी; उस पक्षकी ओर न्याय रहेगा और उस पक्षको श्री और समृद्धि अवश्य जयमाला पहिनावेगी ।

अंतिमके इस एक श्लोकमें गीताका सारांश भर दिया गया है । जहां योगका उपदेश देनेवाले योगेश्वर श्रीकृष्ण और उनके उपदेशसे कर्मयोगी वने अर्जुन हैं वहां किस वातकी कमी है ? श्री, समृद्धि, विजय और न्यायका ही वहां साम्राज्य है । श्रीकृष्ण परमार्थशास्त्रके उपदेष्टा क्या थे मानो परमार्थशास्त्रने प्रत्यक्ष श्रीकृष्णरूप धारण किया था । और अर्जुन शत्रुओंको मारनेवाले धनुर्धर क्या थे मानो वीरताने प्रत्यक्ष नररूप धारण किया था । जव वीरता और परमार्थ दोनो एक साथ होते हैं तभी संसार और स्वर्गमें भेद नहीं रहता । अर्जुनकी वीरता और श्रीकृष्णका योगसामर्थ्य इन दोनोंका जहां मेल हो वहां और क्या चाहिये ? वही स्वर्ग है-वहीं सव कुछ है ।

श्रीकृष्ण भगवान्‌का गीतोपदेश और उसको सुननेवाला अर्जुन जैसा कर्मयोगी-दोनों जव एक ही कार्यको उठा लेते है तो उस कार्यमें विजय लाभ करेंगे इसमें सन्देह ही क्या है ?

गीतोपदेशके अमृतका प्याला रखा हुआ है, पर पीनेवाला

कोई नहीं !

इस अमृतको पान कर भारतवासी यदि अपनी उन्नति आप करना चाहें तो सफलताके साथ कर सकते हैं । अब अर्जुन तो नहीं रहे ! पर श्रीकृष्ण परमात्माका यह दिव्य ज्वलन्त उपदेश संसार भर अपना प्रकाश फैला रहा है । इस प्रकाशमें जो अपना शरीर तेजःपुंज, मन दृढ़ और पवित्र, और आत्मा स्वतन्त्र करना चाहे वह कर सकता है; वही अर्जुन है ।

गीता अर्जुनके लिये ही है । यदि भारतवर्ष अर्जुनकीसी निष्ठा, अर्जुनकीसी जितेंद्रियता, अर्जुनकीसी तेजस्विता प्राप्त करे तो एक नहीं कितने ही अर्जुन इस देशमें तैयार हो जायंगे ।

भारतवासीरूप अर्जुन जब इस गीतासे लाभ उठावेंगे तब गीता अन्तमें जो प्रतिज्ञा करती है वह पूरी हुए विना न रहेगी ।

भारतवासियोंको अब कौरवोंसे लड़ना नहीं है-न शस्त्रोंका ही उपयोग करना है । कौरवोंसे लड़ना तो गीताका निमित्त मात्र था । यदि कौरव-पांडव युद्ध न होता तो भी इस शास्त्रके महत्तत्व लोगोंपर प्रकट हुए बिना न रहते । उस युद्धके समय गीताकी जितनी जरूरत थी उतनी आज भी है । जबतक संसार-में स्वर्ग नहीं बन जाता तबतक गीताकी जरूरत बनी है ।

इस समय भारतवासियोंको कौरवोंसे नहीं उनसे भी बड़े शत्रुओंसे युद्ध करना है । विचार करनेका स्थान है कि जो भारतवर्ष संसारका शिक्षागुरु था वह आज संसारमें सबसे असभ्य समझा जा रहा है ! भारतवासियोंमें न शिक्षा है, न उद्योग है, न स्वावलंबन है, न प्राणरक्षाका उपाय है, न पुरुषार्थ है ।

भारतवर्षकी जो एक मात्र संपत्ति धर्म उसका भी रूप बिगड़ गया है । वर्णाश्रम धर्मपर एकाध पंडित चाहें तो लम्बा

चौड़ा व्याख्यान सुना सकते है पर उस धर्मका अब कोई अर्थ नहीं रहा ! समाजका नाम रह गया है-उसमें जीवन नहीं !

नित्य नयी नयी बुराइयां भारतवासियोंमें जड़ फैला रही हैं !

इनको दूर करना-विघ्न बाधाओंको हटाना और अपने आदर्शके अनुसार यदि और कहीं नहीं तो, अपने देशमें ही समाज जीवित करनेकी चेष्टा करनेके लिये भारतवासियोंको अर्जुन बनकर गीताधर्मका प्रचार करना चाहिये ।

अठारहवां अध्याय समाप्त ।

श्रीमद्भगवद्गीता ।

प्रथमोऽध्यायः ।

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

संजय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पांडवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पांडुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुंतिभोजश्च शैव्यश्च नरपुंगवः ॥ ५ ॥
युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजय ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंतः सर्व एव हि ॥ ११ ॥
तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥
ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यंत स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यंदने स्थितौ ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥
पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनंतविजयं राजा कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥
काश्यश्च परमेष्वासः शिखंडी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पांडवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।

अर्जुन उवाच ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

संजय उवाच।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौंतेयः सर्वान्बंधूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

अर्जुन उवाच।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदंति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुला श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥
एतान्न हंतुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हंतुं धार्तराष्ट्रान्स्वबांधवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥
यद्यप्येते न पश्यंति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥
कुलक्षये प्रणश्यंति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥ ४१ ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतंति पितरो ह्येषां लुप्तपिंडोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यंते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हंतुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो
नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

संजय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदंतमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच ।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मेशिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ७॥
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् । यच्छोकमुच्छोषणमिंद्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं । राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच ।

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविंदमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदंतमिदं वचः ॥ १० ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचंति पंडिताः ॥ ११ ॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥
मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥
यं हि न व्यथयंत्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽतस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥
अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥
अंतवंत इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते ॥ १९ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि-न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो। न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २०॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम्॥ २१॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय। नावानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-। न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२२॥
नैनं छिंदंति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः॥ २३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥
अव्यक्तोऽयमचिंत्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥ २६॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ २७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २८॥
आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥२९॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ ३०॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ ३१॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभते युद्धमीदृशम्॥ ३२॥
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यंति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यंते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥
अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यंति तवाहिताः ।
निंदंतस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥
एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबंधं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखा ह्यनंताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वंद्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥
योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबंधविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनंदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इंद्रियाणींद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इंद्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥
ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥
इंद्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशंति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशंति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति॥ ७१॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामंतकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति॥ ७२॥
इति श्रीमद्भगवद्गीता० सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तृतीयोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ १॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ २॥

श्रीभगवानुवाच।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ ३॥
न कर्मणामनारंभान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥
नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥
कर्मेंद्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इंद्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ ६॥
यस्त्विंद्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेंद्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ ७॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ ८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयंतु वः ।
परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यंते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यंते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव' ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्माणि ॥ २२ ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः ॥ १२ ॥
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वंतिन्त भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसागिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्वावित्तु महावाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जंते गुणकर्मसु।
तान् कृत्स्नविदो मंदान् कृत्स्नविन्नविचालयेत् ॥ २९ ॥
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशी र्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥
ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावंतोऽनुसूयंतो मुच्यंते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥
ये त्वेदभ्यसूयंतो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रह किं करिष्यति ॥ ३३ ॥
इंद्रियस्येंद्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्नवशमागच्छेत्तौह्यस्य परिपंथिनौ ॥ ३४ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच ।

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥
इंद्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥
तस्मात्त्वमिंद्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥
इंद्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीता० कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ३

चतुर्थोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच।

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥
ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥
कांक्षंतः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥
किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥
यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः ॥ १९ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ २० ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्ये इंद्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यांति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥
अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ ३६ ॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विंदति ॥ ३८ ॥

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥
योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवंतं न कर्माणि निबध्नंति धनंजय ॥ ४१ ॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ ४२ ॥
इति श्रीमद्भगव० कर्मब्रह्मार्पणयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पंचमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बंधात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदंति न पंडिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इंद्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तंत इति धारयन् ॥ ९॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥ १०॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वंति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥ १२॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३॥
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जंतवः ॥ १५॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६॥
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७॥
विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यंतवंत कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥
योऽतःसुखोऽतरारामस्तथांतर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥
लभंते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवांतरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतरचारिणौ ॥ २७ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शांतिमृच्छति ॥ २९ ॥
इति श्रीमद्भगव० संन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥
यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥
बंधुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥
जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥
योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रंस्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशांतात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥
युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥
सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥
प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥
युंजन्नेव सदात्मनं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥
यो मां पश्याति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यतिः।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२ ॥

अर्जुन उवाच।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥
चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवदृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

श्रीभगवानुवाच।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।

अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥
प्राप्य पुण्यकृतां‍ल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनंदन ॥ ४३ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥
इति श्रीमद्भगव० आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः।

श्रीभगवानुवाच।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युंजन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिध्दानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।

मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥ १४ ॥
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यंते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥
चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥
बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥
अंतवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यांति मद्भक्ता यांति मामपि ॥ २३ ॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वंद्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यांति परंतप ॥ २७ ॥
येषां त्वंतगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वंद्वमोहनिर्मुक्ता भजंते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतंति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥
इति श्रीमद्भगव० ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥
अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

य. प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् १०
यदक्षरं वेदविदो वदंति विशंति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छतो ब्रह्मचर्यं चरंति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवंति महात्मनः संसिद्धिं परमां गता ॥ १५ ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
सहस्रयुगपर्यंतमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदोजनाः ॥ १७ ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवंत्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयंते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यांतःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥
यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यांतितं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ल, षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छंति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चांद्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

इति श्रीमत्० तारक ब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तंते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौंतेय प्रकृतिं यांति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नंति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥
अवजानंति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजंत्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥
सततं कीर्तयंतो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।

नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजंतो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मंत्रोऽहमहमेवाऽऽज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयंते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नंति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभंते ॥ २१ ॥
अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजंते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानंति तत्त्वेनातश्च्यवंति ते ॥ २४ ॥
यांति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः ।
भूतानि यांति भूतेज्या यांति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबंधनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनय, ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम् ॥३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीता० राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवंति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥
एतां विभूतिं योग च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकंपेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयंतः परस्परम् ।
कथयंतश्च मां नित्यं तुष्यंति च रमंति च ॥ ९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते ॥ १० ॥
तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥

अर्जुन उवाच ।

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासःस्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

हंत ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यंतो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामंत एव च ॥ २० ॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इंद्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कंदः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गंधर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कंदर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥
अनंतश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥
प्रल्हादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥
सर्गाणामादिरंतश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वंद्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥३४॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छंदसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥
दंडो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥
नांतोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥
इतिश्रीमद्भगवद्गीता० विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच।

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्यांबरधरं दिव्यगंधानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनंतं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजय।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनंतरूपम्।
नांतं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिण च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समंताद् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
अनादिमध्यांतमनंतवीर्यमनंतबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपंतम् ॥१९॥
द्यावापृथिव्योरिदमंतरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशंति केचिद्भीताः प्रांजलयो गृणंति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाःस्तुवंति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः २१
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥२४॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु संदृश्यंते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवंति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशंति वक्त्राण्यभिविज्वलंति ॥ २८ ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशंति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशंति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो ॥ ३० ॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवंतमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

श्रीभगवानुवाच ।

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यंति सर्वे येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥३४॥

संजय उवाच।

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृतांजलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच।

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवंति सर्वे नमस्यंति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनंत देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनंतरूप ॥ ३८ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनंतवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनंतमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संजय उवाच ।

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२ ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥ ५५ ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु० विश्वरूपदर्शनयोगो
नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रता ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।

अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छांतिरनंतरम् ॥ १२ ॥
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।
इति श्रीमद्भगवद्गीता० भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ २ ॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ३ ॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ४ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छंदोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इंद्रियाणि दशैकं च पंच चेंद्रियगोचराः ॥ ६ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ७ ॥
अमानित्वमदंभित्वमहिंसा क्षांतिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ८ ॥
इंद्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १० ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १२ ॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १३ ॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥
सर्वेंद्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १५ ॥
बहिरंतश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके चतत् ॥ १६ ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १७ ॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १८ ॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १९ ॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ २० ॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २१ ॥
पुरुष प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २२ ॥
उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २३ ॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २४ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २५॥
अन्ये त्वेवमजानंतः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरंत्येव मृत्यु श्रुतिपरायणाः॥ २६॥
यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ २७॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं य पश्यति स पश्यति॥ २८॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हि नस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २९॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ ३०॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ३१॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते॥ ३२॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥ ३३॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ ३४॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमंतरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांति ते परम्॥ ३५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० प्रकृतिपुरुषनिर्देशयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

चतुर्दशोऽध्याय ।

श्रीभगवानुवाच ।

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥ २ ॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभव. सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥
सर्वयोनिषु कौंतेय मूर्तयः संभवंति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति गुणा. प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नंति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम ॥ ५ ॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौंतेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥
सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तम' प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभ प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा ।

रजस्येतानि जायंते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायंते विवृद्धे कुरुनंदन ॥ १३ ॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमाविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छंति सत्वस्था मध्ये तिष्ठंति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधोगच्छंति तामसाः ॥ १८ ॥
नान्यं गुणेभ्य कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच ।

कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारःकथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पांडव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तंत इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिंदात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० गुणत्रयविभागयोगो नाम
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पंचदशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तंति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥
निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छंत्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातनः ।
मनःषष्ठानींद्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गंधानिवाशयात् ॥ ८ ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥
उत्क्रामंतं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यंति पश्यंति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥
यतंतो योगिनश्चैनं पश्यंत्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतंतोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यंत्यचेतस ॥ ११ ॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्त पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमानस्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासू० पुरुषोत्तमयोगो नाम
पंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच ।

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवंति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोध पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥
दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायासुरी मता ।
मा शुच· संपदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥ ५ ॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥
प्रवृत्ति च निवृत्ति च जना न विदुरासुरा ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवंत्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः। ९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्ततेऽशुचिव्रताः॥ १०॥
चिंतामपरिमेयां च प्रलयांतामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिता॥ ११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहंते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ १२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धो ऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतंति नरकेऽशुचौ। १६॥
आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजंते नाम यज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां गतिम्॥ २०॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ २१॥

एतैर्विमुक्तः कौंतेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासू० दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच ।

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजंते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजंते सात्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजंते तामसा जनाः ॥ ४ ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यंते ये तपो जनाः ।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयंतः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवांतःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥
आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥८॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥
अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥ ११ ॥
अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥
विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
श्रद्धया परया तप्तंतपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजस स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध. स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीता० श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः।

अर्जुन उवाच।

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच।

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ ३॥
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागोहि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥ ४॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ ५॥
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामस परिकीर्तितः॥ ७॥
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ ९॥
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ १०॥
नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ ११॥
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ १२॥
पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ १३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् हंति न निबध्यते ॥ १७ ॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥
ज्ञानं कर्म च कर्ता त्रिधैव गुणभेदतः
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥
मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचि :।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥
बुद्धेर्भेद धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचाति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥
शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥ ४५ ॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥ ४६ ॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥
सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शांतो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ ५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम्॥ ५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ ५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ ५७॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि॥ ५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ ५९॥
स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ ६०॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥ ६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ ६३॥
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ ६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ ६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥
य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच ।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

संजय उवाच ।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

उपसंहार ।

श्रीमद्भगवद्गीता तत्वज्ञानका ग्रन्थ है । इसमें शरीर और जीवात्मा, विश्व और विश्वात्मा, अज्ञान और ज्ञान, दुःख और सुखका वास्तविक भेद दिखलाकर सच्चे सुखकी प्राप्ति, श्रेष्ठ ज्ञानका उपार्जन, परमात्माके दर्शन, और जीवात्माके अनुभव करनेका उपाय बतलाया है।

युद्धके समयमें अर्जुन अपने संबंधियोंको देखकर क्षात्रधर्म-से मुंह मोड़नेपर उतारू हो गया तब श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनको सिद्धान्त समझाये हैं उन्हीं सिद्धान्तोंको लेकर महाभारतकार श्रीव्यासजीने जो अठारह सुमनोंकी सुगंधमय माला तैयार की वही यह श्रीमद्भगवद्गीता है।

अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनं ।
आयूरक्षति मर्माणि आयुरन्नं प्रयच्छति ॥

जबतक दममें दम है तबतक शत्रुको पीठ न दिखाऊंगा और किसीके सामने हाथ न पसारूंगा; क्योंकि जब आयुष्य है तब कौन किसको मार सकता है और जबतक शरीर है तबतक इसकी रक्षाके लिये अन्नदाता परमात्मा भी मौजूद है । अर्जुनका यह कौल था; पर कौरवोंका सेनाव्यूह देखकर उसका जी घबरा गया। शत्रुसे सामना होतेही अर्जुन युद्धसे किनारा कसने लगा। यह क्यों ? क्या अर्जुन डरगया ? अर्जुन शत्रुओंकी विशाल सेना-के उग्र रूपसे भयभीत नहीं हुआ, पर अपने कर्तव्य पालनसे डर गया। उसने सोचा कि यदि मैं युद्ध करूंगा तो मेरे ये गुरु-जन मारे जायंगे—मेरे मित्र मुझसे जुदा होंगे-और भारतभूमिसे क्षात्रियवंश नष्ट हो जायगा। पतिहीन कुलस्त्रियोंमें अधर्म फैलकर भावी कुरूप, कुरंग और कुशील सन्तानोंकी जड़ जमा देगा।

आत्माका अमरत्व।

यह मोह दूर करनेके लिये श्रीकृष्ण भगवान्‌ने आत्माका अमरत्व समझाया है। हम, आप और ये लड़नेवाले वीर योद्धा क्या ऐसे ही है जैसे दिखायी देते हैं? हम क्या हैं? हमारे हाथ, पैर, शिर, नाक, कान, पेट 'हम' नहीं है! किसी मनुष्यका हाथ कट जानेसे वह मनुष्य नहीं कट जाता। उसी प्रकार किसीकी गर्दन उड़ जानेसे कोई मर नहीं मिटता। शरीर एक तरहका कपड़ा है जो फटनेपर या पुराना होनेपर हम फेंक देते हैं और नया धारण कर लेते हैं! मरता कौन है? हम तुम नहीं मरते-मरता है शरीर। इसलिये श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि किसीके मरनेपर शोक मत करो— अपना कर्तव्य किये जाओ। इसके अतिरिक्त जो मरता है वह जीता भी है और जो जीता है वह मर ही जाता है। फिर शोक करनेकी बातही क्या है?

क्षात्रधर्म।

क्षत्रिय धर्म वर्णव्यवस्थाके अनुसार अपने देशकी परापहारी शत्रुओंसे रक्षा करना और उद्दंडको दंड देना है। यही क्षत्रियका धर्महै। अपना जी बचानेके लिये अथवा अपने मित्रोंको देखकर नैनसुख लूटनेके लिये युद्ध करनेसे पीछे डिगना निरी कायरता है।

पुरुषार्थ।

अपना धर्म पालन करना ही इहजीवनकी इतिकर्तव्यता है। शोक अथवा मोहको मनसे भगाकर एक कर्तव्यपर ही दृष्टिको स्थिरकर उस कर्तव्यमें लग जाना ही पुरुषार्थ है। उसमें चाहे मृत्यु

हो जाय-मृत्यु हुई तो स्वर्गका द्वार खुला है। और जीत हुई तो भी कीर्त्ति और श्रीसमृद्धि हाथ जोड़े खड़ी है। परन्तु स्वर्गप्राप्ति अथवा कीर्त्तिके लिये कर्तव्य करना ठीक नहीं। क्योंकि फलकी इच्छासे जब मनुष्य कार्य करता है तब वह इच्छा उसे धर दबाती है। कभी कभी तो इस इच्छामें लोग इतने लिपट जाते हैं कि कर्तव्यको भूलकर मनके लड्डू ही खानेकी आदत उन्हें पड़ जाती है और कार्य जरा भी नहीं बनता। यदि कार्य अच्छी तरह करना हो तो जबतक वह कार्य पूरा न हो तबतक उस कार्यको छोड़ और कोई विचार भी मनमें उत्पन्न न होने पावे। जो मनुष्य इस ढगसे काम करता है उसका काम ऊंचे दर्जेका होता है; क्योंकि उसकी सारी शक्तियां उस काममें लग जाती हैं। जब काम अच्छा होगा तब उसका फल भी उत्तम होगा इसमें संदेह ही क्या है ? किसी कार्यमें सफलता प्राप्त करनेकी यही खूबी है।

योग।

'योग' शब्दका अर्थ है 'मेल'। योग कई प्रकार होता है। जिस योग द्वारा श्रीसमृद्धि, आरोग्य और कीर्त्ति मिलती है वह भी योग है; और जिस योगसे परमात्माके साथ संयोग होता है वह भी योग ही है। तात्पर्य, अपनी सारी शक्तियोंको किसी एक कार्यमें अथवा किसी एक वस्तुपर देनेका ही नाम योग है। योगसे बढ़कर संसारमें दूसरी शक्ति नहीं है। योगसे मनुष्य बुद्धिमान् और पराक्रमी होता है। योगसे मनुष्य बलिष्ठ और सुन्दर बनता है। योगसे मनुष्यमें वह शक्ति आ जाती है जिससे परमात्माके दुर्लभ दर्शन सुलभ हो जाते हैं। परन्तु यह बड़े अभ्यासका काम है। सबसे पहिले मनको एकाग्र करने-

की चेष्टा करनी चाहिये। शरीरको नींद द्वारा विश्राम देनेके कार्यसे लेकर घमासान युद्धमें हाथ, पैर, आंख कान आदि शरीरके सारे अवयवोंको फुर्तीसे काममें लानेके कार्यतक जितने छोटे बड़े कार्य हैं उनमें से जो कोई कार्य आप चाहे किसी वक्त करते हों उस कार्यमें उस वक्त तक आपका मन इसतरह 'युक्त' होना या मिल जाना चाहिये कि आपको यह न मालूम पड़े कि यह कार्य और आप कोई दो भिन्न भिन्न वस्तुएं हैं—कार्य और कर्तामें भेद ही न रह जाय। यही योग है और इसी योग पद्धतिसे जो लोग परमात्माका ध्यान करते हैं वे परमात्माको सचमुच पा जाते है। फिर संसारकी कोई बात पाना क्या कठिन है?

जिन लोगोंको आराम तलबीकी आदत पड़ी हुई है उनके लिये यह ज़रा टेढ़ी खीर है। क्योंकि आराम तलब वे ही लोग होते हैं जो मनकी मुसाहिबीमें लगे रहते हैं—वे मनको अपना मुसाहिब बनाना नहीं जानते। वे कोई सद्ग्रन्थ पढ़ते भी हैं तो उनका मन दूसरी ओर लगा रहनेसे उन्हें उन सद्ग्रन्थोंमें भी प्रकाशके बदले मायामोहका अंधकार ही दिखायी देता है। वे लोग न इहलोक बना सकते हैं न परलोक ही। परमात्मा तो त्रिगुणातीत है—सत्व, रज, अथवा तमके फन्देमें फंसनेवाला नहीं है। उसके साथ ऐसे लोगोंका संयोग होना दूर रहा—वे संसारके सामान्य जनोंमें ही नाम कमानेमें असमर्थ होते हैं। जिन्हें सृष्टिकी अद्भुत लीलाका रहस्य जानना है उन्हें पहिले यह जानना चाहिये कि परमात्माके पास पहुंचनेके लिये परमात्माके समान होनेका अभ्यास करना पड़ता है।

यह अभ्यास वे लोग नहीं करते जो 'खाओ, पीओ, और मौज करो' इस मतके माननेवाले हैं। ऐसे मतवाले लोग दो

तरहके होते है । एक तो वे जो बापका कमाया धन फूककर अन्तमें तबाह होते हैं और एक वे लोग हैं जिनके पास बापकी कमाई नहीं है पर अगर मिले तो उड़ानेमें कसर न करें। ऐसे लोग मनके लड्डू ही खाते रहते हैं। एक आदमीने थोड़ेसे रुपये खर्च कर कांचके बरतन खरीदे और उन कांचके बरतनोंपर बड़ा भारी व्यवसाय चलाना चाहा। पर मनमें अपनी भावी संपत्ति-पर विचार करने लगा। उसने सोच लिया कि इतने दिनोंमें मेरे पास लाख रुपये जमा हो जायंगे। फिर क्या पूछना है-मारे शेखी-के वह फूल उठा और मनोराज्यके नशेमें चूर हो कर अपनी स्त्री-पर कल्पनातरंगमें ही क्रोधित हो कांचके बरतनोंपर उसने लात चला दी। बस, फिर क्या था—सारे बरतन फूट गये और सारी आशा मिट्टीमें मिल गयी। इसीलिये श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि विषयचिन्ता मत करो; क्योंकि इससे मनुष्य उस चिन्ता-में फंस जाता है, मन फंसनेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे शोक या मोह उत्पन्न होता है; मोहसे चित्त अस्थिर होता और विवेक जाता रहता है, फिर मनुष्य आपेसे बाहर होकर अपने आपको भूल जाता है।

ब्राह्मी स्थिति।

परन्तु जो मनुष्य मनपर विजय लाभ कर अपने कर्तव्य-पालनमें अपनी सारी शक्तियोंको लगा देता है वह इस प्रकार-के अभ्यासमें अपनी बुद्धिको दिन दिन अधिकाधिक स्थिर करता है और दुःखसे डांवाडोल नहीं होता। वह ब्रह्म-चिन्तामें मगन होकर संसारको ब्रह्ममय देखता है। उसके किसी कार्यसे किसी-की हानि नहीं होती, क्योंकि विश्वकल्याण ही विश्वात्माके दर्शनकी सोपान-परंपरा है।

कर्मयोग।

पाश्चात्य देशोंकी इतनी उन्नत अवस्था क्यों है ? और वेद, उपनिषद्, गीता आदि उत्तम ज्ञानसंपन्न ग्रन्थोंके रचयिता आर्य मुनियोंकी हिन्दू सन्तानोंकी ऐसी दुर्दशा क्यों हो रही है? इसका उत्तर यही है कि पाश्चात्य देश कर्मवीर है और भारतवासियोंने कर्मयोगको तिलांजलि दे दी है!

भारतवर्ष परमार्थप्रधान देश है। यहां परमार्थका जितना विचार हुआ उतना और किसी बातका नहीं। परमात्माका अगम्य स्थान वर्णन करनेमें भारतवासियोंकी जितनी बुद्धि खर्च हुई है उतनी और किसी बातमें नहीं। भारतवासी अभीतक परमात्माके जितने पीछे लगे है उतना अपने खाने पीनेका भी विचार नहीं करते। जो करते हैं वही होता है! यदि खाने पीनेका, आरोग्यका, और श्रीसमृद्धिका विचार करें तो वही होगा और इन बातोंको छोड़ सदादूर परमेश्वरका ही पीछा करें तो पीछा ही करते रहेंगे। एकसे श्रीसमृद्धि मिलेगी; दूसरेसे परमार्थ विषयके ज्ञानका प्रचार होगा। पहिला उपाय पाश्चात्य देशवासियोंने किया; दूसरा हम लोगोंने। पाश्चात्य देशवासी मालामाल हुए और हमारी यह दशा हुई कि हमारे विषयमें अब यदि पाश्चात्य तत्ववेत्ता 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं। क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।' यह कहें तो वह अक्षर अक्षर सत्य है। सच पूछिये तो पाश्चात्य मार्गने जितना लाभ उठाया है उतना पूर्वीय मार्गने नहीं उठाया! परन्तु इसका कारण प्राचीन ऋषिमुनि नहीं हैं। उन्होंने हिन्दू धर्मको ऐसा बना दिया कि सांसारिक और पारलौकिक दोनों प्रकारकी उन्नति हो। इसीलिये गीतामें कर्मयोगका अवतार है। कर्मयोगका उद्देश्य यह है कि पाठकोंकी,

उनके देश और जातिकी, ऐहिक उन्नति पहिले हो और फिर आपही आप पारलौकिक उन्नति होगी । कर्मयोगकी पद्धतिसे कार्य करनेपर परमात्माके दर्शन भी होते हैं और बल, आरोग्य तथा धन भी मिलता है। तीसरे अध्यायमें इसीलिये कर्मयोगका विवेचन किया गया है।

परमात्मा निर्गुण—निराकार है। जीवात्मा उसके समीप तभी पहुंचता है जब वह उसके समान हो जाता है। यह बहुत सच है। पर निर्गुण और निराकार कोई कैसे हो सकता है? किसीके कर देनेसे कोई मनुष्य निर्गुण—निराकार हो सकता है? यह तो अभी विश्वास ही नहीं होता कि हमारा शरीर और यह सृष्टि रूप परमात्माका शरीर ही सत्य नहीं है; सत्य तो उसके अन्दरका आत्मा और परमात्मा है। इसका अनुभव करनेको तपस्या करनी पड़ती है। वह तपस्या शरीर, मन और बुद्धिसे करनी पड़ती है। इसलिये शरीर, मन और बुद्धि सदा ठीक-स्वच्छ रखना पड़ता है। स्वच्छ रखनेके लिये अन्न और वनस्पतियोंके रससे शरीरमें वीर्य बनाये रखना होना है। शरीर स्वच्छ रहनेसे बुद्धि और मन भी वैसे बन जाते हैं। ऐसे पवित्र मन, बुद्धि और शरीरसे परमात्माके स्वरूपकी अहर्निश चिन्ता किये बिना दर्शन नहीं होते। परन्तु अहर्निश चिन्ता करना तबतक साध्य नहीं है जबतक मनुष्य अपने शरीर और मनको इतना सुदृढ़ न बनाले कि संसारकी लीला अथवा प्रकृतिके उलटफेरका उसपर कुछ भी प्रभाव न पड़े। शरीर और मनपर पूर्ण स्वामित्व तभी उत्पन्न होता है जब इंद्रियोंको स्वार्थ-संपादनसे रोक लें अर्थात् जो कोई कार्य हम करें वह स्वार्थके लिये न हो—वह परमात्माको समर्पित हो—उसके फल मनुष्य जातिको प्राप्त हों। विश्वात्माका कार्य विश्वकल्याणकी कामना है। विश्वात्माकी प्राप्ति

विश्वकल्याणकी कामनामें तन, मन, धन अर्पण कर देनेसे होती है।

जो लोग सब काम धाम छोड़कर 'हरिनाम' लेना ही पुरुषार्थ समझते हैं वे बहुत भूलते है। उन्हें जानना चाहिये कि जीवात्मा जो शरीर धारण करता है वह शरीरको निकम्मा बना रखनेके लिये नहीं। हम आप ऐसी कोई बात कर सकते है जिससे कोई लाभ न हो—जिसका कोई काम न हो। पर परमात्मा ऐसी भूल नहीं कर सकता कि व्यर्थ शरीर निर्माण करे। उसी प्रकार बुद्धि और मनका भी हाल है। मनुष्य अपने शरीर, मन और बुद्धिकी समोन्नति करे इसीलिये शरीर धारण किया जाता है। ऐसे समुन्नत शरीरसे विश्वकल्याणके काम आना ही परमात्माके भक्त जीवात्माओंका उद्देश्य है। इसलिये काम धाम छोड़ना अनुचित और सब काम करना ही उचित है।

परन्तु काम निष्काम हो कर करना चाहिये। सामने परमात्माको और मनमें विश्वकल्याणकी कामनाको रखकर योगपूर्वक कार्य करना ही कर्मयोग है। इससे दोनों लोक बनते हैं। योगपद्धतिसे जो लोग कार्य करते है वे अपना नाम अजर अमर कर जाते है। मनुष्य अमर तो है ही पर योगसे वह अपना नाम भी अमर कर जाता है। योगकी व्याख्या स्मरण रखिये; जिस कामको हाथमें उठालोगे उसमें अपनी सारी शक्तियां खर्च करो और उस कामको पूरा कर छोड़ो। इस तरह काम करनेकी आदत डालनेसे और अपने सब काम अपने आरोग्य, बुद्धिमत्ता, बल और देशसेवामें लगा देनेसे बिना बुलाये भक्तका सेवक परमात्मा और कर्मवीरपर लट्टू होनेवाली कीर्त्ति दोनों आप ही आप पास आ जाते है।

मनुष्यको सदा दो प्रकारके कामोंकी ओर ध्यान देना

चाहिये; (१) नित्यके कार्य; और (२) नैमित्तिक कार्य। नित्यके कार्य अर्थात् सूर्योदयसे प्रथम ही शौचादि विधि और जलस्नान से निवृत्त हो सूर्यदेवके कोमल किरणोंसे सर्वांग स्नान करते हुए सन्ध्यावंदन, प्राणायाम और गायत्री जप करना, तथा नित्यके जो पंचमहायज्ञ है उनको प्रसन्नता पूर्वक संपादन करना। नैमित्तिक कार्य वे है जो समयकी विशेष परिस्थितिके कारण उत्पन्न होते है; जैसे प्लेग, महामारी, हैजा, दुर्भिक्ष आदिसे (जो भारत-वासियोंके नित्यके सहचर हैं उनसे) और दुष्टोंके अत्याचारसे लोगोंको बचाना, देशपर शत्रु आक्रमण करे तो शत्रुको हटाना इन कामोको करते हुए सदा यह बात ध्यानमे रखनी चाहिये कि हमें किस प्रकारके लोगोंमें काम करना है, उनकी क्या धर्म-कल्पनाएं है, उनको प्रिय वस्तु कौनसी है, और कौन वात करने-से उनके दिलमें दर्द पैदा होता है। इसका विचार न कर जो लोग देशसेवा करने जाते हैं वे देशमें एक नयी हलचल पैदा कर देते हैं और कभी कभी अपने कियेका समर्थन करनेके लिये यह कह देते हैं कि ऐसी हलचलसे लोगोंमें जान आती है हां, यह बात अवश्य है कि लोगोंमें सर्वसाधारणको नुकसान पहुंचानेवाली जो बातें या कुरीतियां है उनको जोरोके साथ मेट देना चाहिये। परंतु ऐसी कुरीतियोंके मेटनेमें किसीके धर्म, उपासनाकी रीति, मंत्रविधि अथवा सम्मान्य नेताके सच्चरित्र पर आक्षेप आघात करना सर्वथा अनुचित ह। जो लोग चाहते हैं कि समयका सामना करने योग्य बुद्धिमत्ता और कार्यशक्ति हम लोगोंमें ला दें उन्हें समयपर बड़ा गंभीरता-से विचार करना चाहिये। उदाहरणार्थ वर्तमान समय लीजिये, देशकी दशा क्या है? देशकी अधोगतिका मुख्य कारण क्या है? क्या इसके कारण नानाविध धर्मसमाज अथवा इंद्रदेवका

कोप है ? लोग क्यों बेदम हैं और क्या करनेसे उनमें दम आ जायगा ? उनमें आरोग्य और बलका कैसे प्रचार होगा ? धन और धान्य कहांसे मिलेगा ? इंग्लैंड, जर्मनी, अमेरिका आदि देशोंके पराक्रमकी सामर्थ्य कैसे आवेगी ? और कैसे भारतवर्ष अपने कर्मयोगकी शिक्षाका प्रचार दिग्दिगन्तमें करेगा ? इन प्रश्नोंपर विस्तरशः विचार करनेका यह स्थान नहीं है। केवल यह कह देना है कि आरोग्य राजनीति और समाजशास्त्रके अज्ञानसे ही उन्नतिका मार्ग रुका हुआ है। कार्य-कर्त्ताओंको इधर ध्यान देना चाहिये ।

दूसरी बात जो कर्मयोगीको जाननी है वह यह कि छोटी छोटी बातोंमें भी लोग श्रेष्ठ पुरुषोंका अनुकरण करते है। कपड़े पहननेकी रीतिसे लेकर बात करने और मिलनेका ढंग, खान पानका विचार आदि जितनी बातें है उन सब बातोंमें कर्मयोगी-को ऐसा आचरण करना चाहिये कि उसके अनुकरणसे लोगों-की हानि न हो। और एक बात; बहुतसी ऐसी बातें समाज-में देखनेमें आती हैं कि वास्तवमें उनकी कोई आवश्यकता नहीं परन्तु उनसे कोई नुकसान भी नहीं है और लोग उनपर बड़ी श्रद्धा करते है। ऐसी अवस्थामें लोगोंको अपने अनुकूल बनानेके लिये स्वयं पवित्र मनसे उन बातोंको करना चाहिये। श्रीकृष्ण भगवान्ने तीसरे अध्यायमें इन तीनों बातों पर बड़ा जोर दिया है। अभिमानको त्यागकर जो कर्मवीर श्रीकृष्ण भगवान्के इस उपदेशामृतसे अमर होकर कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण होंगे उन्हें अवश्य सफलता प्राप्त होगी।

स्वभाव और कर्म ।

यह बात प्रत्येक मनुष्यको ध्यानमें रखनी चाहिये कि सब

मनुष्य एक ही प्रकारके काम नहीं कर सकते। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी प्रवृत्ति और स्वभाव पहिचान कर किसी काम-को उठाना चाहिये। नौकरी भी करनी हुई तो ऐसी नौकरी करनी चाहिये जिसमें मन लगे-इस तरह मन लग जाय कि उस नौकरीसे अफसरी हासिल हो। स्वभाव, प्रवृत्ति और संस्कार मनुष्यको किसी खास कामके योग्य बनाते हैं। इसलिये इनका विचार कर लेना चाहिये। जो लोग ऐसा विचार नहीं करते वे भ्रमसे अपनी बिरादरी, अपनी नौकरी, या अपना गांव छोड़ कर दूसरी जगह चले जाते हैं और फंसते हैं। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके पहिले इस बातका खूब विचार करलेना चाहिये कि क्या इस स्थानपर हम रह ही नहीं सकते? अथवा क्या उस स्थानकी (जहां जाना है) इच्छा हमारा पिंड छोड़ ही नहीं सकती? अगर नहीं छोड़ सकती तो स्थान परिवर्तन ही ठीक है।

ब्रह्मचर्य।

भारतवर्षकी वर्तमान दुर्दशाके अन्य अनेक कारणोंमें प्रधा-नतः ब्रह्मचर्यका अभाव है इसी कारण गीता जैसे परम उपकारी ग्रन्थोंके रहते हुए भी हम बात बातमें अपमानित होते हैं और अपनी उन्नति और पराक्रमके विषयमें हतोत्साह हो रहे हैं। संसार-में इतना गिरा हुआ देश और कोई नहीं है? विदेशी बालक यहां आकर भारतवासी युवकोंको लजाते है इसका अनुभव किस-को नहीं है! विदेशमें ८०-९० वर्षके वृद्ध भी उत्साही, परा-क्रमी और व्यायामपटु होते हैं! विदेशमें ५० वर्षके मनुष्य भी अपनेको पूर्ण युवा मानते हुए कालेजोंमें अभ्यास करते है! और हे भारतवर्ष! तू ही गिरा क्यों है कि तेरी युवा सन्तान् २५

वर्ष की भरजवानीमें मृत्युको आलिंगन देती है ? इसका कारण ब्रह्मचर्यका अभाव है ! नवयुवको ! याद रक्खो, तुम्हारी उन्नति तुम्हारे ब्रह्मचर्यपर ही निर्भर है ।

हम लोग जो अन्न खाते है उसका शरीरके अन्दर रस बनता है । रससे रक्त, रक्तसे मांस, माससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे वीर्य बनता है । इसी वीर्यसे शरीरकी रक्षा होती है, इसी वीर्यसे शरीर बलिष्ठ, सतेज और हृष्टपुष्ट होता है । यही जीवनका आश्रय है । इसीकी रक्षा करना परम धर्म है—इसी रक्षाका नाम ब्रह्मचर्य है । शास्त्रीयरीत्या परीक्षा कर देखनेसे मालूम हुआ है कि वीर्यका एक बिन्दु रक्तके चालीस बिन्दू बराबर है और जननेंद्रिय ही सारी शक्तियोंका उगमस्थान है—उसीके बने रहनेसे सब कुछ बनता है ।

भरण बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।
तस्मादातिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ॥

वीर्यक्षयसे ही मृत्यु होती है और वीर्य धारण ही जीवन है । इसलिये हर उपायसे वीर्यकी रक्षा करनी चाहिये । हिन्दुओ ! स्मरण रक्खो, विलासितासे ही तुम्हारा सर्वनाश हुआ है ! विलासिताको अब यहां न रहने दो । समय सात्विक कार्य करनेके लिये और वीर्य उस कार्यको वीरता और सफलतासे करनेके लिये है । ब्रह्मचर्यके बिना संसारमें किसीकी किसी प्रकारकी उन्नति नहीं होती । संसारमें जो बड़े ऋषि मुनि और प्रचंडशक्तिसंपन्न आविष्कारक, रणधीरयोद्धा, प्रभावशाली वक्ता और लेखक उत्पन्न हुए वे सब ब्रह्मचारी थे । भारतके नवयुवको ! यदि तुम्हे इस जीवनका सच्चा आनन्द लूटना है और अपने अभागे देशको स्वतंत्र देशोंकी पंक्तिमें बैठाना है तो ब्रह्मचारी बनो । तुम्हारे पास धन नहीं है तो परवा नहीं, ब्रह्मचर्य है तो ने-

पोलियनकी तरह तुम भी संसारको अपने पराक्रमसे थर्रा सकते हो। वीर्यकी शक्ति इतनी प्रचंड है कि तुम्हें संसारकी कोई शक्ति नहीं हिला सकती। वीर्यके बलसे ही योगी लोग परमात्माको पाते हैं। इससे निश्चित है कि संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो वीर्यके बलसे प्राप्त न हो।

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले?

ब्रह्मचर्य-पालन करनेमें बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। शहरके रहने वालोंके इर्द गिर्द प्रलोभन है कि शहरवासियोंमें एकाध ही कोई मनुष्य ब्रह्मचर्य नाशके महापापसे बचता है। नशेखोरोंकी संगसोहबत, अश्लील नाटकोंके देखनेमें जागरण, अश्लील उपन्यासोंका पठन, आलस आदिसे सदा बचनेका अभ्यास करनेवाला पुरुष ही ब्रह्मचारी रह सकता है। ब्रह्मचर्य पालनके लिये आठों प्रकारके मैथुनसे सदा दूर रहना चाहिये।

श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणं।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निष्पत्तिरेव च॥

ये आठ प्रकारके मैथुन हैं। प्रत्यक्ष स्त्रीसंभोगके अतिरिक्त श्रवणादिसे भी वीर्यकी अधोगति होती है। इसलिये कदापि मनमें रेतःपातका विचार न आना चाहिये। अभ्यास करनेसे यह कोई कठिन बात नहीं है। पर अभ्यास आरंभ करना ही कठिन होता है। इसलिये सदा स्मरण रखना चाहिये कि वीर्य जीवन, जीवनहेतु और प्रभुके दर्शनके लिये है। वीर्यका एक और उपयोग है और वह सिखाना भी नहीं पड़ता। प्रत्येक वीर्यवान् मनुष्यमें अपने जैसा एक और प्राणी उत्पन्न करनेकी इच्छा होती है। इस इच्छाको पूर्ण करना पाप नहीं है— धर्म ही है। वीर्यका नाम ही उत्पत्ति-बीज है और उसका काम सन्तान् उत्पन्न करना है। परंतु व्यर्थ ही वीर्यका नाश करना

महापाप है; क्योंकि इससे मनोहर संसारकी मनोहरता जाती रहती है-जीवन फीका जान पड़ता है और कोई पराक्रम नहीं बन पड़ता। लोगोंमें जीवन ला देना अथवा एक जीता जागता प्राणी तैयार करना-ये ही दो वीर्यके काम हैं।

परन्तु वीर्यरक्षा तभी हो सकती है जब मनुष्य वीर्यके महत्वको समझे। हमलोगोंमें खाने पीने उठने बैठने और चलने फिरनेके विषयमें इतने वाहियात नियम चलगये हैं कि उन नियमोंको बिना तोड़े ब्रह्मचर्यका पालन नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्यका अर्थ है कि प्रकृतिपर प्रभुत्व जमाना और हमारी जीवनचर्या ऐसी है कि हम लोग प्रकृतिके गुलाम बन रहे हैं। प्रातःकालसे लेकर सोनेतक हम लोगोंको अपने लिये ऐसे नियम बना लेना चाहिये जिनसे शरीर, मन और बुद्धिकी उन्नति हो। पहिली बात ध्यानमें रखनेकी यह है कि हमें जहांतक संभव हो निसर्ग-नियमोंसे चलना चाहिये। भोर सबेरे बिछौनेसे सो-कर उठिये और देखिये कि वायु कितनी स्वच्छ और पवित्र है। इस वायुमें प्राणशक्ति फैली रहती है। सबेरे उठने वाला कर्म-योगी इस वायुसे अपने जीवनके लिये भरपूर प्राणशक्ति प्राप्त कर लेता है। इस विषयमें पशुपक्षी हमारे गुरु हैं उनको प्रातः समीरसे जो आनन्द मिलता है और जो पवित्र शक्ति प्राप्त होती है वह उनके निरोगी कंठसे बाहर फूट निकलती है इसलिये सबेरे उठनेकी शिक्षा हमें पक्षियोंसे ग्रहण करनी चाहिये। इसके उपरान्त आपके शरीरसे रोग निकाल बाहर करनेके लिये सूर्यदेव अपने कोमल किरणोंसे आपको सर्वांग स्नान कराने आते हैं। परन्तु आप इस वक्त बन्द कोठरियोंमें खर्राटे मारते पड़े हों तो सूर्यदेव क्या करेंगे? शरीर सदा स्वच्छ रखना चाहिये। निसर्गकी अद्भुत कृति पर्वत सनिकली हुई किसी पवित्र धारा-

में अथवा गंभीर समुद्रकी विद्युतशक्तिसंपन्न लहरोंमें स्नान करना अत्युत्तम है। जहां समुद्र अथवा देवनदी न हो वहां कुंपके जलसेही शरीर स्वच्छ रखना चाहिये। शरीर स्वच्छ कर परमात्माकी आराधनासे अथवा निसर्गदेवकी कृतज्ञतापूर्वक पूजा करनेसे मन उल्लसित और बुद्धि तीव्र होती है। सूर्यदेवके कोमल किरणोंसे शरीरके रग रगमें प्राण संचय करते हुए, ऋषि मुनियोंने, पंचमहाभूतोंकी उपासना, सूर्यदेवको अर्घ्य प्रदान और प्राणायाम करनेका क्या ही उत्तम उपदेश दिया है। यह उपदेश सदाके लिये है। प्यारे युवको! क्या आपके रहते वह अरण्यरुदन मात्र होगा? सबेरे उठते ही सिगरेट तमाखूसे शरीर और मन विषमय करनेके बदले उक्त प्रकारसे यदि लोग समयका उपयोग करें तो क्या ही अच्छा हो। इसी प्रकार जीभके गुलाम बनकर मन माना खानेकी आदत डालनेके बदले यदि भूख लगने पर ही स्वच्छ पवित्र और यथा संभव जैसाका तैसा अन्न खानेका अभ्यास करें तो हमारी शक्ति कितनी अद्भुत हो जाय। सोनेसे पहिले नशाखोरी या गप्पाष्टक करनेके बदले यदि हम मलमूत्र विसर्जन कर ईश्वरकी आराधना कर सोवें तो कैसी मीठी नींद ले सकते हैं—स्वप्न या स्वप्नावस्था कैसे आप ही आप भाग जाती है। वैसे ही बंद कोठरियोंमें मुंहपर चादर अथवा पुरानी रजाई ओढ़कर सोनेके बदले स्वच्छ कपड़ोंके साफ बिस्तरे पर खुली हवामें यथा समय सोनेका प्रयत्न करें और ७। ८ घंटेसे अधिक न सोवें तो मनकी प्रसन्नता कितनी बढ़ती जाती है। और अन्तमें यह कह देना है कि अश्लील उपन्यास पढ़ने अथवा नाटक देखकर शरीरमें विष फैलानेके बदले यदि गीता जैसे ग्रन्थको नित्य पढ़ने पर सोनेका अभ्यास डालें तो

नींदकी खुशामदमें रात बिता देने वालोंको भी कैसी अनायास विश्रान्ति मिलती है: इत्यादि बातोंपर अभ्यासपूर्वक विचार करने वाला मनुष्य साहसी, बलवान्, तेजस्वी, और प्रभावशाली बनता है; क्योंकि उसका वीर्य नाश नहीं होने पाता बल्कि वीर्यवृद्धि होती रहती है।

जो लोग अनर्थ वीर्यपात कर चुके हैं वे प्रायः औषधियों-की शरण लेकर अपना तन, मन और धन देकर सर्वनाश कर लेते हैं। उन्हें निसर्गके नियमोंको जानना चाहिये और यह विश्वास रखना चाहिये कि उनके अनुकूल चलनेसे वे अपनी शक्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ाते ही जायंगे। अभी हम लोग सांस लेनातक नहीं जानते। जंगलमें रहनेवाला मनुष्य हम लोगोंको सांस लेना सिखला सकता है। वह जन्मसे ही निसर्ग-देवीकी गोदमें पला रहनेसे नैसर्गिक श्वसनशास्त्रका वास्तव-में (बकवादमें नहीं) पंडित होता है। मनुष्यको ठीक उसी तरह सांस लेनेकी चेष्टा करनी चाहिये जिस तरह जन्मते ही नन्हा बालक लेता है। वह सांस पूरी सांस होती है। पूरी सांस लेनेसे शरीरके अन्दरका सब मैल साफ हो जाता है। परन्तु शहरकी सगसुहबतने हमें निसर्गसे इतनी दूर ला छोड़ा है कि पूरी सांस लेना सीखनेके लिये अब तपस्या करनी पड़ेगी। ऐसी तपस्या करनेवाले लोग अमेरिका, जर्मनी आदि देशोंमें उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने इस विषयमें ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें नैसर्गिक व्यायाम पद्धति और पूर्ण श्वसनके व्यायाम बतलाये गये हैं। स्थलसंकोचके कारण हम यहां उनको नहीं लिख सकते। इतना बतला देना पर्याप्त समझते हैं कि हम लोग जिस प्रकार सांस लेते हैं वह ठीक नहीं है; हमको स्वच्छ वायुमें रहकर वह प्राणमय वायु यथाशक्ति खींचकर शरीरके अन्दर

फैला देनेकी चेष्टा करनी चाहिये और फिर अन्दरकी दूषित वायु बाहर निकाल देनी चाहिये। चेष्टा करनेसे इस तरह सांस लेनेकी आदत पड़ जायगी। यह चेष्टा ही सच्ची औषधी है। इस औषधीसे असाध्य क्षयरोग भी साध्य होते हैं और मनुष्य वीर्यवान् बनता है। शायद यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि सांस नाकसे ही लेनी चाहिये—मुंहसे नहीं।

जब मन किसी मोहक वस्तु या स्त्रीको देखकर बहकने लगे तब भी इसी प्रकार सांस लेकर शरीरका विष निकाल देना चाहिये।

इस प्रकार ब्रह्मचर्यके लिये जो लोग यत्न करते हैं वे महापुरुष भी बन सकते हैं; उन्हें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं! वे ही परमात्माके प्यारे भक्त हैं। उनकी बुद्धि स्थिर होती है। वे ईश्वरको जान लेते हैं।

ज्ञानयोग।

परमात्मा ज्ञानमय है। ज्ञानसे ही उसके दर्शन होते हैं।

परंतु जो लोग ब्रह्मचर्य नहीं पालन करते उनकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। जिनकी बुद्धि अस्थिर है उन्हें किसी विषयका ज्ञान नहीं प्राप्त होता। इसलिये ब्रह्मचर्य पालन कर ज्ञान लाभ करना चाहिये।

मनुष्य स्वयं ज्ञानी है; परन्तु प्रकृतिके परदेमें उसे ज्ञानका अनुभव नहीं होता। इसलिये अज्ञानसे वह ऐसे कर्म करता है जिनसे वह उन कर्मोंमें फंसता है और ज्ञानका प्रकाश उसे नहीं दिखायी देता। जबतक ज्ञानका प्रकाश उसपर नहीं पड़ता तबतक वह उस ज्ञानके पीछे जन्म जन्मान्तर लेता है। जन्मका यही उद्देश्य है कि मनुष्य ज्ञानी हो।

परन्तु ज्ञान प्राप्त करनेका उपाय केवल विचार कर बेकार पड़े रहना नहीं है। सच्चा ज्ञान अनुभव-ज्ञान है। पुस्तकें पढ़कर बिना अनुभव जो ज्ञान होता है वह असल ज्ञान नहीं है। अपने जीवनमें हम जिस ज्ञानको उपयोग कर परख लेते हैं वही सच्चा ज्ञान है। अर्थात् सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेका उपाय जीवनका सदुपयोग है। इस उपायकी कर्मभूमि अपना शरीर मन और बुद्धि, तथा देश, मानव जाति और प्राणि-मात्र है। पहिले हमने जिस शरीरको धारण किया है उसके एक एक पुर्जेको ठीक रखना हमारा कर्तव्य है। फिर जिस मनसे हम अपने शरीरकी मशीन चलाते हैं उसे अपनी विवेकबुद्धिकी सोहबतमें रखना हमारा कर्तव्य है। और इस प्रकार जब हम अपने शरीरके स्वामी बन जाते हैं तब हमारा यह काम है कि जिस संसार-स्वामीके निकट हमें जाना है उस संसारकी शारीरिक और मानसिक, नैतिक और अध्यात्मिक उन्नतिका कार्य करें। इस प्रकार हमारा शरीर, मन और बुद्धि अखिल ब्रह्मांड-में व्याप्त हो जानी चाहिये। तभी तो हम जीवात्मासे विश्वात्मा बनेंगे। इस आदर्शको सामने रखकर सबसे पहिले हमें अपनी उन्नतिके साथ साथ

देशोद्धार

करनेकी प्रबल इच्छा होनी चाहिये। देशका उद्धार कौन करेगा? जिनका देश है उन्हींको उसके उद्धारकी फिक्र करनी चाहिये। यही तो न्याय है। जो लोग निर्गुण निराकार ईश्वर-के भरोसे हाथ मलते रहते हैं उनके देशका उद्धार कदापि नहीं हो सकता। जैसे हमारे शरीरकी उन्नति हमारे सिवा दूसरा

कोई नहीं कर सकता, उसी प्रकार हमारे देशरूपी देहको भी और कोई बलिष्ठ नहीं कर सकता । यदि हमे बलिष्ठ होना है तो पहिले हमें काममें हाथ लगा देना चाहिये, फिर ईश्वर मालिक है । जो लोग

ईश्वरी अवतार

मानते हैं उन्हें जानना चाहिये कि ईश्वर आलसी, दुराचारी और परमुख निहारनेवालोंकी बन्द कोठरियोंमें अवतार नहीं लेता । ईश्वर उन्हीं की मदत करता है जो अपनी आप मदत करते हैं । श्रीकृष्ण भगवान्‌ने क्या कहा है ? जब महात्माओंपर अत्याचार होते हैं तब मैं अवतार लेता हूं । पहिले महात्मा हों और जब उनपर अत्याचार हो तब ईश्वरके अवतारकी बात निकालनी चाहिये । अत्याचार, कष्ट, और नाना प्रकारकी आपदाएं सहनेके लिये जब मनुष्य तैयार हो जाता है तब कहना चाहिये कि उसने अपने शरीरपर अधिकार जमा लिया-उसका जीवन आपना जीवन है-उसकी आत्मा एक ही शरीरके अन्दर नहीं बल्कि संसारमें फैली हुई है ।

इस प्रकार जिसका हृदय फैल जाता है वही ज्ञानयोगका अधिकारी होता है । उसीको ज्ञान प्राप्त होता है और वही जीवात्मासे विश्वात्मा बनता है ; क्योंकि अपने भाइयोंके लिये प्रसन्नतासे कष्ट स्वीकार करनेवाला कर्मवीर सुखदुःखसे छूट जाता है । वह अपना कर्तव्य ही करता है । उसे शरीर अपना एक कारखाना मालूम होता है और उस कारखानेसे वह लोगोंके उन्नतिके सामान तैयार करता है । इसलिये लोग उस शरीरको पूज्य मानते हैं ।

सन्यास।

इस प्रकार भूतसेवामें शरीर, मन और बुद्धिको लगा देना ही सन्यास है। जो लोग गेरुए वस्त्र पहिन लेते हैं और 'छत्रमें भोजन और मठमें निद्रा' का व्रत धारण करते है वे सन्यासी नहीं है। गीताकार कहते हैं कि सन्यासी जितेन्द्रिय होना चाहिये। उसे सबको समदृष्टिसे देखना चाहिये और कोई कार्य करतेहुए सुख दु:ख न मानना चाहिये। ऐसी वृत्तिवाला पुरुष वही हो सकता है जो स्वार्थको जलांजलि देने और भूत॰ सेवा करनेमें जीवन दे दे। वह जीते जी मुक्त हो जाता है। उसका नाम, काम और धाम तीनों अमर होते हैं।

ध्यान।

हम आप अपने अपने सब काम करते हैं। परन्तु जिस विशाल शक्तिने यह विश्वब्रह्मांड रचा—जिसकी सत्तासे नित्यप्रति सूर्यदेव आकर हमारे रोगोंका नाशकर हमे तेजस्वी बनाते हैं और निशाकालमें चंद्रदेव हमारे वीर्याधार वनस्पतियों- को सुधारससे पुष्ट कर जाते हैं-जिसकी सत्तासे वायुदेव हमारे शरीरका शुद्ध बनानेका हर समय काम कर रहे हैं और वरुण इस वसुन्धराको शस्यश्यामा बनानेके लिये गिरिकन्दराओंसे पवित्र जलधाराएं प्रवाहित करते है—जिसकी सत्तासे रत्न- गर्भा वसुन्धरा हमारी श्रीसमृद्धिको वृद्धिगत कर रही है, उस सर्वपालक न्यायमूर्त्ति परमात्माके ध्यानमें हम एक पल भी खर्च न करें यह कितनी शोचनीय अवस्था है।

हमारी जीवनचर्या ही निसर्गनियमोंके इतनी प्रतिकूल हो गयी है कि हमें उस प्रचंड दैवी शक्तिके लाभहानिका थोड़ा

सा भी ज्ञान नहीं है और इसलिये पंचमहाभूत हमें किस प्रकार पालते पोसते हैं और हम उनका कैसा निरादर करते है इसका विचार सपनेमें भी पास फटकने नहीं पाता! फिर प्रकृति-के परे उस परमात्माकी कौन सुध ले? इसलिये हमारी यह अधोगति हुई कि परमार्थकी डींग हांकनेभर ही सामर्थ्य रह गयी है और पाश्चात्य देशवासी जो पार्थिव उन्नतिमें लगे रहे वे निसर्गनियमोंको जानने लगे हैं। उन नियमोंसे उन्हें जो लाभ होता है उसकी हमें खबरतक लगने नहीं पाती! वे निसर्ग-नियमोंका पालन कर परमात्माकी ओर जा रहे है और हम पर-मार्थकी बातोंमें ही लगे रह कर पार्थिव उन्नति भी करने योग्य नहीं बन सके!

इसलिये हमें निसर्गके नियमोंको समझना चाहिये और जिस परमात्माकी सत्तासे सदा हमारी सेवा करनेके लिये निसर्गदेव तत्पर हैं उस परमात्माके ध्यानमें जितना समय खर्च करें उतना थोड़ा ही है। परमात्माका ध्यान करनेके लिये निसर्गनियमोंका पालन करना पड़ेगा जिनका उल्लेख पीछे हो चुका है। उन नियमोंके अनुकूल चलनेसे मनुष्यमें स्वातंत्र्यवृत्ति उत्पन्न होगी; क्योंकि स्वभावतः ही मनुष्य स्वतंत्र है। परन्तु स्वतंत्र होनेके लिये इंद्रियोंकी अधीनताका पाश तोड़ कर विवेक और न्यायके अधीन होना चाहिये।

आत्मावलंब।

मनुष्यको एक आत्माका ही भरोसा रखना चाहिये। जितने काम हम लोगोंको करने पड़ते हैं उन सबमें एक अपना ही सहारा हो। हम लोग अबतक सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि सभी बातोंमें दूसरोंकी ओर देखते है; यह बहुत ही

बुरा है। इससे अज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हर बातमें मनुष्यको स्वतंत्र होना चाहिये । स्वतंत्रतासे ही मनुष्यकी पूर्ण उन्नति हो सकती है। परतंत्र मनुष्य कदापि अपने मन, बुद्धि अथवा शरीरकी यथेष्ट उन्नति नहीं कर सकता। इसीलिये पहिली बात स्वावलंबन है। फिर

नियमितता

मनुष्यमें यदि वक्तपर सब काम करनेकी आदत न हो तो यह मनुष्य कोई अच्छा काम नहीं कर सकता । हम लोग जो नित्य काम करते हैं उन कामोंको ठीक समयपर करें तो इससे अपना और अपने देशका कल्याण होगा। सोना, सोकर उठना, स्नान संध्यादि करना, व्यायाम और प्राणायाम, भोजन और जलपान, व्यवसाय और मनोरंजन आदि सभी काम ठीक समयपर करें तो हमारे और आपके लिये बहुतसा ऐसा समय बच जायगा जब हम और आप और कोई अच्छा काम कर सकते हैं। यह बड़ा भारी लाभ है पर इतना ही मत समझिये। नियमिततासे शरीरके अन्दर जो कार्यवाही हुआ करती है वह ठीक समयपर जैसी चाहिये वैसी होती है। समयपर काम न करनेसे शरीरके पुर्जे बिगड़ जाते हैं और मस्तक तड़कने लगता है—रोग पैदा होते हैं—मन मलीन हो जाता है और बुद्धि भ्रष्ट होती है। इसीलिये ध्यानपद्धति बतलानेसे पहिले श्रीकृष्ण भगवान्ने स्वावलवन और नियमितताकी शिक्षा दी है।

ध्यानपद्धति ।

ध्यान करनेका समय निश्चित नहीं है; क्योंकि जिस समय आप

चाहे उसी समय आप ध्यान कर सकते है। जिस समय ध्यानमें मन लगे वही समय ठीक है। सायंकालका मनपर कैसे प्रभाव पड़ता है यह बात सभी जानते हैं और इसीलिये उस समय खाना पीना बन्द कर ईश्वरकी आराधना करनेकी अच्छी रीति है। परन्तु जो लोग सबेरे नहीं उठ सकते वे नहीं जानते कि प्रातःकालकी क्या महिमा है। वे पहिले सूर्योदयसे पूर्व उठ कर मकानके ऊपरी छतसे अथवा किसी मैदानमें जाकर सृष्टि-सौन्दर्य देखें तो उन्हें मालूम होजायगा कि परमात्माका अथवा निसर्गदेवका ध्यान करनेका उत्तम समय प्रात काल ही है। प्रात काल और सायंकाल, और हो सका तो माध्यान्हमें भी ईश्वरकी आराधना करनी चाहिये। ईश्वरकी आराधनाका कोई खास मार्ग नहीं है, जिसके जीमें जैसा आवे वह वैसी ही उपासना करे। परन्तु आर्य ऋषियोंने और गीताकारने भी निश्चित मंत्रों द्वारा उपासना करना उत्तम माना है। मुख्य मंत्र गायत्री है। इस मंत्रका मनमें उच्चारण कर उसके भावको समझते हुए विश्वात्माके ध्यानमें मगन होना चाहिये। परन्तु सब लोग चाहे जैसे स्थानपर बैठ ध्यान नहीं कर सकते। इसलिये ध्यान करनेके लिये आसनकी भी व्यवस्था बतलाई है। स्थान पवित्र, स्वच्छ और सूर्य किरणोंसे शोधित होना चाहिये। वहां गन्दी हवा कहींसे न आने पावे इसका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। ऐसे स्थानमें कुशासनपर धूतवस्त्र बिछाकर बैठ जाय। फिर पालथी मारकर स्वाभाविक स्थितिमें शरीरके सारे अवयवोंको कर ले अर्थात् कमर या गर्दन झुकी न रहे; हाथ जरा पीछेकी ओर और छाती आगेकी ओर फैली हुई हो। फिर दोनों भौओंके बीचमें दृष्टिको एकाग्र कर परमात्माका ध्यान करना चाहिये। इस समय मनमें और किसी प्रकारका विचार न घुसने पावे।

हां, ध्यान करते समय पूर्ण श्वसन लेने, निरोध करने और छोड़ देनेका अभ्यास करना बहुत अच्छा होगा । इस प्रकार नित्य नियत समयपर ध्यान करना चाहिये और जब जब मन बहकने लगे तब तब परमात्माका ध्यान कर इसी प्रकार पूर्णश्वसन करना चाहिये । ऐसे समय विषयचिन्तामें फंसनेके लिये मन जबर्दस्ती दौड़ जाय तो उसके बुरे परिणामका ही ध्यान करना चाहिये ।

इस प्रकार जो लोग योगपद्धतिसे ध्यान करते है वे जिस दर्जेका उनका ध्यान होगा वैसा फल पाते हैं । थोड़े अभ्याससे भी बड़ी कठिनाई दूर होती है और यह अभ्यास इस संसारमें और जन्म जन्मान्तरमें भी काम आता है । अर्जुनने जब पूछा कि योगसे च्युत हुए मनुष्यकी क्या गति होगी तब भगवान्‌ने यही उत्तर दिया कि उसकी अच्छी गति होगी—वह दूसरे जन्ममें किसी श्रीमान् और पवित्र कुलमें उत्पन्न होगा अथवा किसी ऐसे स्थानमें जन्म लेगा जहां वह अपना योगाभ्यास पूरा करनेकी सामग्री पा सके ।

प्रकृति और प्रभु ।

'प्रकृति' इस एक शब्दसे सारे संसारकी देख-अदेख वस्तुओंका बोध होता है । और 'प्रभु' यह नाम उस आधारका है जिसकी सत्तासे संसारकी स्थिति है ।

प्रकृतिके दो भेद हैं; एक परा और दूसरी अपरा ।

पंच महाभूत अर्थात् पृथ्वी, आप, तेज, वायु, अकाश, और मन, बुद्धि, तथा अहंकार ये अपरा प्रकृतिके आठ भेद हैं। अर्थात् यह सारी सृष्टि, सृष्टिके सम्बन्धी सारे शास्त्र, सिद्धान्त, तर्क और 'मैं हूं' इस विषयका ज्ञान आदि अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत

हैं। भूस्तर, वनपस्ति, जीवन, ज्योतिष, गणित, मानसनीति आदि सारे शास्त्रों और सिद्धान्तोंका अपरा प्रकृतिमें अन्तर्भाव होता है। तात्पर्य मिट्टीके एक कणसे लेकर देखने और जाननेकी सब बातें और उनका ज्ञान अपरा प्रकृति है।

परन्तु इन सब वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करनेवाली, भोग करनेवाली और संसारको चलानेवाली एक शक्ति है जिसे जीव कहते है। इसीको पुरुष अथवा परा प्रकृति भी कहते हैं। यह ज्ञानस्वरूप है। यही मनुष्यके ज्ञानकी सीमा है।

जीव इच्छा और संस्कारोंसे आच्छन्न है। इच्छा निर्मूल होने· पर जीव ही शिव या प्रकृतिका प्रभु है। वह सर्वव्यापी है-निर्गुण और निराकार है।

इस प्रकार संसार या संसारकी प्रत्येक वस्तु अथवा प्रत्येक मनुष्यके तीन रूप हैः-(१) प्रकृति अर्थात् पंचमहाभूतोंसे बना शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार, (२) जीवात्मा अर्थात् इच्छा-च्छन्न आत्मा, और (३) निर्गुण-निराकार आत्मा।

जीवात्मा इच्छाच्छन्न होनेके कारण सुखदुःखका भागी होता है और दुःख दूर करनेके लिये जिस सर्वव्यापी शक्तिकी सत्तासे संसारचक्र चल रहा है उसकी शरण लेता है। ऐसी शरण लेनेवालोंके चार भेद हैः-आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह अपने बलका पूर्ण उपयोग कर अज्ञान रूपी जंजीरको तोड़ देता है। वह अपनी बुद्धिका सदुपयोग करता है और शरीरको अच्छे कामोंमें लगाता है।

जीव और ब्रह्म।

उस निर्गुण-निराकार परमात्माका नाम ब्रह्म है। जीव भी

ब्रह्म है-परन्तु हम उसका तबतक अनुभव नहीं कर सकते जबतक सांसारिक संस्कारका हमारे ऊपर प्रभाव पड़ा हुआ है।

ब्रह्मज्ञानके लिये ब्रह्मचर्य धारण करना पड़ता है। जीवनको ब्रह्मार्पण कर देना पड़ता है। परन्तु सभी कार्य क्रमसे होते हैं-एकाएक कोई ब्रह्मज्ञानी नहीं होता। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये पहिले विचार और आचारको शुद्ध करना पड़ता है।

'संपूर्ण जगत् ब्रह्ममय है' इस सिद्धान्तको सामने रखकर जो कर्मवीर अपने शरीर, मन और बुद्धिको ब्रह्ममय संसारकी हितकामना और हितसाधनामें लगाता है वही ब्रह्मस्वरूपको पहिचाननेकी चेष्टा कर रहा है। इस प्रकार जिसका जीवन ब्रह्मविचार और ब्रह्मचर्यसे बीतता है वह मृत्युसमयमें यमदूतोंसे नहीं डरता—आनन्दसे ब्रह्मविचारमें मगन हो ब्रह्मके समीप पहुंचता है।

मृत्युसमयमें जिसकी जैसी इच्छा होती है वह वैसा ही जन्म धारण करता है। मृत्युसमय निकम्मा शरीर छोड़ अपनी इच्छा पूर्ण करनेके लिये नवीन देह धारण करनेका समय है। इस समय जो इच्छा होती है उसका हमारे अबतकके जीवनसे घना संबंध है। इसलिये मृत्युसमयमें उच्चविचार होने अथवा दूसरा जन्म उत्तम बनानेके लिये अभीसे—इसी पलसे अपने आचार विचार सुधारनेकी बड़ी ही आवश्यकता है।

जीवकी उन्नति क्रमसे होती है। जीवपर पड़ा हुआ माया-पटल हटने और उसे अपना स्वरूप देखनेके लिये परिश्रम और समयकी आवश्यकता होती है। इसलिये जो मनुष्य धीरजके साथ स्वार्थत्यागपूर्वक हृदय और विचारको उन्नत और विशाल बनानेकी चेष्टा करता है वह मनुष्य इस अनन्त काल, अनन्त उद्योगमय जीवन और अपने अनन्त स्वरूप-

को पहिचाननेकी चेष्टामें उन्नति करता रहता है । कुछ उन्नति हो जानेपर उसे मनुष्यका सौ वर्षका जीवन अथवा बारह घंटेका दिन, जीवन अथवा दिन प्रतीत नहीं होता । वह अपने रात दिनको ब्रह्मकालसे और जीवनको ब्रह्मजीवनसे विचारता है। सृष्टिके प्रभव-प्रलयके समय ही प्रात संध्या प्रतीत होते हैं और अपना जीवन ब्रह्मके समान अनन्त ज्ञात होता है। यही मोक्ष है।

ऐसे कर्मवीर अपने जीवनपर प्रभुता रखते हैं और कालकी गतिको भी रोक सकते है । ये मृत्यु-कालको हटा सकते है । दक्षिणायनमें देहत्याग करनेसे क्या हानि है और उत्तरायण में शरीरविसर्जनसे क्या लाभ है उसे वे जानते है और इच्छा-मृत्युके अधिकारी होते हैं ।

यह विषय बहुत ही कठिन है; क्योंकि ग्रन्थोंके अध्ययनसे ही इसके सिद्धान्तोंकी सत्यता नहीं सिद्ध होती । इसका संबंध प्राणीके जीवनसे है । जीवनका एक एक पल इस अथाह शास्त्रका एक एक ग्रन्थ है । प्रत्येक पलमें हम क्या विचारते हैं और क्या करते है उनपर ही इसके विषयका यथार्थ ज्ञान होना न होना निर्भर है। इसलिये सदसद्विवेकबुद्धिसे पूरा पूरा काम ले कर इस समय क्या कर्तव्य है उसे निश्चित कर काममें हाथ लगानेका श्रीकृष्णभगवान्‌ने उपदेश दिया है ।

राजविद्या ।

जिस विद्यासे सृष्टि और सृष्टिकर्त्ताका रहस्य मालूम होता है वह राजविद्या है । इस विद्याको पढ़नेसे प्राणियोंके दुःख दूर होते हैं, इसलिये यह सब विद्याओंसे श्रेष्ठ है और इसीलिये इसका नाम राजविद्या है ।

सृष्टिके दो भेद हैं: एक दृश्य और दूसरी अदृश्य; अथवा

एक रूपात्मक और दूसरी भावात्मक । प्राणियोंके जितने व्यापार है वे इन्हीं दो वस्तुओंसे हुआ करते हैं। परन्तु रूप और भावको संसारसे अलग कर देनेपर बाकी क्या बचता है? एक शरीरसे इंद्रियां, मन और बुद्धिको निकाल देनेपर और क्या रहता है? किसने इन इंद्रियोंको उत्पन्न किया? यह शरीर किसका है? शरीरके विषयमें हम कहेंगे कि हमारा शरीर है; हमारी इंद्रियां हैं, हमारी बुद्धि है । हम कौन है? हमारा नाम आत्मा है। उसी प्रकार इस विशाल सृष्टिरूप शरीर और उस शरीरसे काम लेनेवाली इंद्रियां, मन, और बुद्धिका भी कोई आधार है और उसका नाम विश्वात्मा या विश्वेश्वर है—वही सृष्टिकर्त्ता है। यह संसार उसी ब्रह्मका शरीर है। परन्तु जिस प्रकार पण्डित लोग शरीरको ही सारसर्वस्व नहीं समझते और आत्माका ध्यान करते हैं उसी प्रकार विश्वनाथ भी विश्वको ही विश्वनाथ नहीं समझते और ब्रह्ममें ही लीन रहते हैं। इस प्रकार ही सृष्टिसे सृष्टिकर्त्ता स्वतंत्र है।

मनुष्य और मनुष्यके शरीरमें भी यही संबंध है। तब क्यों लोग ऐसा नहीं समझते? इसका कारण अज्ञान है। ज्ञान और अज्ञानके मेलसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति है । इसी अज्ञानको लोग माया कहते हैं। माया क्या है? वस्तुका यथार्थ रूप न देखना। धुंधले प्रकाशमें पड़ी हुई रस्सी सांप, रेतीले मैदानमें पड़ी हुई सींप चांदी अथवा अपने ही पैरोंकी आवाज किसी दूसरेकी आहट मालूम देना ही माया है। हम अपने शरीरको अथवा सृष्टिको, जैसा समझना चाहिये वैसा नहीं समझते। मनुष्य-देह बुद्धि और शरीरके सदुपयोगके लिये है—शरीरके उपयोगार्थ आत्मा नहीं है। आत्माने जो शरीर धारण कर लिया है वह कोई विशेष कार्य करनेके लिये है । जो लोग ऐसा नहीं

मानते वे प्रकृतिके दासत्वकी जंजीरसे जकड़ जाते हैं। इस दासत्वशृंखलाको तोड़नेके लिये वे उस प्रभुकी उपासना करते है जो हम सबका पिता है और संसारमें न्यायका साम्राज्य ही स्थिर करना जिसका उद्देश्य है।

जो मनुष्य जिस भावसे उसकी उपासना करता है वह उसी भावको प्राप्त होता है। परमात्मा सर्वत्र, सर्वप्रकार और सर्वसाक्षी है। इसलिये उसके यहां उपासना-भेदसे किसीको स्वर्ग या नरक नहीं मिलता । भाव-भक्तिका फल ही भक्त-लोग पाते हैं।

विभूति-भेद ।

परमात्मा सबका पिता है और सभी उसकी उपासना करते हैं। परन्तु उपासनाओंमें भेद है और परमात्माके भिन्न भिन्न स्थानोंमें भिन्न भिन्न चित्र दिखायी देते हैं। यह क्यों ?

प्रभु ईसाके भक्त ईसाको ही परमेश्वरका अंश और गिरिजागृहको ही उपयुक्त प्रार्थनामन्दिर मानते हैं। इस्लाम मतावलंबी मुसलमान भाई पीर पैगंबरको ही दैवी विभूति और मसजिदको ही पवित्रतम स्थान समझते हैं। परन्तु हिन्दू लोग ही क्यों तेतीस करोड़ देवताओंमें, फल, फूल और वृक्षोंमें, नदियों और समुद्रोंमें, पर्वतों और गिरिकन्दराओंमें, भस्म और मृत्तिकामें भी ईश्वरको देखते हैं और क्यों नहीं एक ईश्वरको मानते ? कारण स्पष्ट है।

परमात्मा सर्वज्ञ है। पृथ्वीके एक एक कण और सूर्यदेवके एक एक किरणमें परमात्मा वर्तमान है । परन्तु मनुष्यकी दृष्टि इतनी विशाल नहीं कि अखिल ब्रह्मांडमें व्याप्त हो कर उस विश्वरूप विश्वात्माका चित्र नयनपुटमें बना ले। इसलिये जहां-

तक जिसकी दृष्टि पहुंचती है वहींतक उसका परमात्मा है। जिस स्थानपर चित्त लग जाय वहीं परमात्मा है। मनुष्यका आरोग्य, बल, बुद्धि, यश, विद्या आयुष्य, और तेज बढ़ानेवाले जितने पदार्थ हैं उतने सब पदार्थोंमें मनुष्यका चित्त रममाण होना अत्यन्त स्वाभाविक है। अब जहां मनुष्यका मन रममाण हुआ वहां यदि परमात्माके अस्तित्वके विश्वाससे पवित्रताका संचार हो जाय तो और क्या चाहिये? इसलिये वसुन्धरा-देवी-के जितने सुगन्धमय और प्रकाशमान आभूषण हैं वे हिन्दुओं-को पवित्र तीर्थोंके समान हैं।

और एक बात। किसी स्थानमें ईश्वरके अस्तित्वका विश्वास मनुष्योंके लिये जितना उपयोगी और स्थिरस्थायी होता है उतना किसी शास्त्रका सिद्धान्त नहीं हो सकता यह बात भारत-वर्षमें सिद्ध हो चुकी है। उदाहरणार्थ—भागीरथीके जलकी महिमा। शास्त्रसे सिद्ध हुआ है कि इसके जलमें जो आरोग्य, बल, और बुद्धि बढ़ानेकी शक्ति है उतनी और किसी नदीके जलमें नहीं। परन्तु इस सिद्धान्तको जाननेवाले कितने लोग नित्य गंगास्नान करते हैं? हमारा विश्वास है कि धर्मविश्वास-से गंगास्नान अथवा तीर्थयात्रा करनेवालोंकी ही अधिक संख्या है। इसलिये हिन्दुओंने ऐसी वस्तुओंको जो देवदेवी मान लिया तो अच्छा ही किया।

विश्वरूप।

विश्वरूप दर्शनके लिये अर्जुनको जो दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई वह हमारे पास कहां है? पर हां हमारी जितनी विशाल दृष्टि, जितना विस्तृत भौगोलिक और ऐतिहासिक ज्ञान, और

उदार-हृदय होगा उतना ही विशाल यह विश्वरूप हमें दिखायी देगा ।

किसी मनुष्यसे मुलाकात करनेका क्या यही मतलब नहीं है कि हम उसके शरीरकी तेजस्विता, सारे अवयवोंका गठन, और उसका चरित्र जानें ? बस तो परमात्माका अनन्तरूप दर्शन करनेके भी यही अर्थ हैं कि हम अपनी दृष्टिको जितनी दूर फैला सकें उतनी दूर फैला कर उसके पंच महातत्वों और तत्वोंसे गठित अखिल ब्रह्मांडका दर्शन करें और परमात्माकी न्यायसत्ता, दुष्टोंको दंड देने और शिष्टोंके पालन करनेकी वृत्ति, तथा आजतक संसारमें किन किन अद्भुत घटनाओं और ऐतिहासिक कर्मवीरोंमें यह दैवी शक्ति प्रत्यक्ष हुई है उसका स्मरण करें ।

वर्तमान समयमें सृष्टिके विविध स्थानोंमें कैसे नानाविध चमत्कार हो रहे हैं और मानवी जातिका कौन अंश किस कार्यमें लगा हुआ है इस विषयका गंभीरतापूर्वक मनन करें और इस समय कौन सच्चरित्र और न्याय फैला रहा है; कौन किसपर अत्याचार कर रहा है, कौन कायरतासे गर्दन झुकाकर न्यायको मिटा रहा है, कौन उस न्यायकी सत्ता स्थापित करनेके लिये तैयार हो रहा है; और अखंड न्यायकारी भगवान् वीरों और साधु पुरुषोंकी श्रीसमृद्धिके लिये क्या क्या सामग्री प्रस्तुत कर रहा है तथा नीच, अत्याचारी, और कापुरुषोंको अपनी दाढ़ोंमें कैसे पीस रहा है; आंख खोल कर, हम लोग इस चित्रको देखें । देखिये, प्रभु अपनी अनन्त भुजाओंसे सच्चरित्र और धर्मवीरोंको आलिंगन दे रहे हैं, और नीचोंको अपने सर्वग्रासी अनलमें भस्म कर रहे हैं !

भक्ति।

भक्तिका अर्थ है अत्यन्त एकता । भक्त वही है जो अपने उपास्य देवसे विभक्त या अलग न हो। परमात्माकी भक्ति करनेका फिर यही अर्थ हुआ कि परमात्मासे इतना मेल हो जाय कि परमात्मा अपनेसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु न प्रतीत हो।

जिस मनुष्यको परमात्माका भक्त बनना है उसे परमात्माकी विश्वकल्याणकी वृत्ति अपनेमें ला छोड़नी चाहिये । प्राणीमात्रसे प्रेम करना, सबसे मित्रता और दयाका व्यवहार करना, मोह और अभिमान न करना, सुखदुःखकी परवा न करना, क्षमा, संतोष, प्राणायाम, जितेंद्रियता, स्वार्थत्याग, न्याय, शान्ति, मित और आवश्यक भाषण इत्यादि परमात्माकी भक्तिके उपाय हैं।

इस उच्चतम भक्तिको सभी कोई नहीं प्राप्त कर सकते। परन्तु सभी भक्त थोड़ी थोड़ी भक्ति अवश्य कर सकते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रकी भक्ति करना कठिन है; परन्तु वीरवर हनुमानकी वीरताका भक्त बनना उतना कठिन नहीं। अपने स्वभावके अनुकूल जिस मनुष्यको जो आदर्श उचित जान पड़े उसी आदर्शका वह ध्यान करे। वीरताकी भक्ति करनेसे उदारता आती है। उदारतासे दृष्टि विशाल होती है। इसलिये इस समय भारतवर्षमें वीरताकी ही भक्ति होनी चाहिये। जिससे कायरता दूर होगी और चित्त शुद्ध और हृदय उदार होगा। परमात्माकी भक्तिका यह एक उपाय है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ।

परा और अपरा प्रकृतिका वर्णन पीछे हो चुका है । उसमें

यह बतलाया जा चुका है कि यह देह किन तत्वोंसे बनी और देह धारण करनेवाला कौन है। उसी प्रकार यह सृष्टि किन पदार्थोंसे बनी है और सृष्टिकर्त्ता कौन है? इसी देह और देही-को, सृष्टि और सृष्टिकर्त्ताको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

जीवात्मा प्रकृतिजन्य विकारोंके कारण प्रकृतिके चरखेमें भटकता है। जितेंद्रिय,निर्भय, और शुद्ध-हृदय हो नित्य ध्यान करनेसे प्रकृतिकी दासतासे स्वतंत्रता प्राप्त होती है। इसका थोड़ेमें अनुभव लेना हो तो रातको सोते समय इस शरीरका वास्तविक रूप सामने रख आत्माका ध्यान कीजिये। कुछ दिनोंके अभ्यासमे मनकी चिन्ता इतनी शीघ्र-तासे नष्ट हो जायगी और आपको इतनी मीठी नींद लेनेका अवसर मिलेगा कि देखकर आप आश्चर्य करेंगे। परन्तु रातको ऐसे विचार मनमे उत्पन्न कब हो सकते है? जब जीवनके नियम पालन किये जायं—जिस समय विश्राम करना है उस समय विश्रामके लिये लेट जाय और जिस समय जीवन-संग्राममें युद्ध करना है उस समय युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हों। अनुभव लेनेका अभ्यास करनेसे ये बातें उतनी कठिन नहीं मालूम होतीं।

प्रकृतिके तीन गुण।

प्रत्येक मनुष्यमें ज्ञान, सुख, कर्म, दुःख, आलस्य, और अज्ञानके बीज रहते हैं। सृष्टिके मूलमें भी इन बीजोंका अस्तित्व है। इनके तीन विभाग किये गय हैं: (१) सत्व (२) रज, और (३) तम। सत्व ज्ञान और सुखका प्रकाशक है; रज कर्म और दु खका मूल है; तम आलस्य और अज्ञानका कारण है। जब ये तीनों गुण सम परिमाणसे रहते हैं तब वह शून्यावस्था कही जाती है, क्योंकि ज्ञान+अज्ञान=०; सुख+दुःख=०; कर्म+

आलस्य=०। इसलिये सृष्टिकार्यके अर्थ इस समतामें विषमता उत्पन्न होनेकी आवश्यकता होती है। यह विषमता ब्रह्मसत्तासे उत्पन्न हो कर सृष्टि और शरीरका कार्य करती है। प्रत्येक प्राणीमें इसीलिये इन तीन गुणोंमेंसे एक न एक प्रबल और दूसरे निर्बल होते हैं। किसीमें सत्वगुण प्रधान होता है तो किसीमें रजोगुण और किसीमें तमोगुण।

तीनों गुणोंमें सत्वगुण श्रेष्ठ है; क्योंकि उसकी प्रधानतासे मनुष्यके अन्य गुण दबते हैं और सृष्टिका ज्ञान और सुख प्राप्त होता है इसलिये सात्विक बननेका उपदेश है। रजोगुण विलास और विहारकी इच्छासे मनुष्यको जकड़ डालता है। उसी प्रकार तमोगुण मनुष्यको आलसी और खुराफाती बनाता है।

सात्विक बननेके लिये मनुष्यको नैसर्गिक नियमोंका पालन करना पड़ता है। प्रत्येक कार्यमें—भोजन, शयन, विहारादिमें—नियमित होना पड़ता है। ब्रह्मचर्यकी बड़ी सावधानीसे रक्षा करनी पड़ती है। जो लोग सात्विक होना चाहते हैं उन्हें शरीर, मन और बुद्धिसे पूरा पूरा काम लेकर देशसेवा अथवा भूतसेवामें योग देना चाहिये।

सत्वगुणप्रधान मनुष्यके इहपरलोक दोनों बनते है। रजोगुणप्रधान व्यक्ति सुखी नहीं होता क्योंकि उसे ज्ञानका आस्वाद नहीं! तमोगुणी मनुष्य इस जन्ममें अपना चरित्र न सुधारे तो वह पशुयोनिमें फिर जन्म लेता है।

परन्तु जिस मनुष्यको इन तीनों गुणोंकी उत्पत्तिका यथार्थ ज्ञान हो जाता है वह प्रकृतिकी दासतासे स्वतन्त्र हो जाता है। उसे चिरशान्ति प्राप्त होती है। वह गुणातीत हो ब्रह्मस्वरूप होता है। पर अभी ब्रह्मस्वरूप हो जाना हमारा आपका काम नहीं है। हम भारतवासी इस समय यह चाहते हैं कि पहिले

हमारे शरीर हृष्टपुष्ट और तेजस्वी हों-आधेपेट कंगाल भाइयों-को अन्न वस्त्र मिले; हमारी राजनीतिक आर्थिक, शारीरिक और सामाजिक स्थिति इस प्रकार हो जाय कि प्रत्येक हिन्दूको अपनी योग्यता दिखाने और अधिकार भोगनेका अवसर मिले। उसी प्रकार भारतवर्षसे कायरता दूर हो जाय और वह प्रबल राष्ट्रोंकी पंक्तिमें स्थान पा ले। यह कार्य होनेसे पहिले ही यदि हम लोग ब्रह्मीभूत होनेका प्रयत्न करें तो हमने व्यर्थ ही शरीर धारण किया! शरीर धारण करनेका क्या कोई खास उद्देश्य नहीं है? क्या बिना उसका पूरा उपयोग किये हम उस संपत्ति-को लात मारकर फेंक दें? नहीं नहीं, उसका पूरा उपयोग करनेसे ही आत्माका उद्देश्य सिद्ध होगा।

पुरुषोत्तम-योग।

पुरुषोत्तम नाम उस परमात्माका है जो हमारे इस अनन्त संसारका मूल है। उस परमात्माकी प्राप्तिका नाम ही पुरुषोत्तम-योग है। सत्वरजादि प्रकृतिगुणोंसे ढके रहनेके कारण ही हम उस परमात्माके समीप नहीं पहुंच सकते। इसलिये मानवी उन्नतिका अन्तिम लक्ष्य इन प्रकृति-बन्धनोंको तोड़कर ब्रह्म स्वरूप होना है।

प्रकृतिके गुणोंसे स्वतंत्र होनेके लिये असंग अर्थात् वैराग्य साधन करना पड़ता है। अभ्याससे मनुष्य निःसंग हो सकता है। विषय भोगसे मन हटाकर जो मनुष्य अपने मन, तन और बुद्धिके सारे परिश्रम देश अथवा विश्वके हितसाधनमें लगा देता है और भक्तिके साथ अपने समयके एक एक पलको अमूल्य समझ कर प्रामाणिक ग्रन्थोंके पठन, श्रवण और मनन

करता हुआ ज्ञानको काममें लाता है वही निःसंग हो तीनों गुणोंकी दासत्वशृंखला तोड़ डालनेमे कठिनाई नहीं देखता। वह आत्माज्योतिके प्रकाशसे उस परंपदको देख लेता है जो यहांसे इतनी दूर है कि इस विश्वप्रासादको प्रकाशमान् करनेके लिये उत्पन्न हुए अगणित तेजोमय दीपकों का भी प्रकाश वहां-तक नहीं पहुंचने पाता। एक आत्माज्योतिमें ही इतनी शक्ति है कि उसका प्रकाश विश्वके ओरसे छोरतक फैल जाता है। यह परंपद सत्य और न्यायकी अखंड सत्ता है।

प्रकृतिके संयोगसे आत्माको जीवदशा प्राप्त होती है। जीवदशा प्राप्त होनेपर जीवत्माका ज्ञान भी संकुचित होता है; क्योंकि वह सृष्टिकार्यके लिये अपने योग्य एक भूमंडल अथवा शरीर तैयार करता है। इसी शरीरको वह अपना शरीर समझता है। शरीरकी यदि परवा न करे और अपने रूपका ध्यान करे तो वह सारे भूमंडलको ही अपना शरीर समझने लग जायगा। परन्तु ऐसा होना इतना आसान नहीं है। सत्वादि गुणों-से स्वतंत्र होनेके पहिले उन गुणोंसे पूरा पूरा काम लेना उसका कार्य है। एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जीव लोग इसीलिये जाते हैं कि वे अपनी शक्तिका एक बारमें पूरा उपयोग नहीं कर सके तो दूसरे बार कर लेंगे। दूसरा जन्म लेनेके पहिले पूर्व जन्मसे वह अपने साथ कुछ संस्कार ले जाता है जिनके अनुकूल ही दूसरे जन्मकी उसकी देह, मन और बुद्धि तैयार होती है। यह कार्य उसी प्रकारसे होता है जैसे वायु फूलोंसे सुगंध बहा ले जाती है। जीव यह सब अपनी उन्नतिके लिये करता है। परन्तु सबकी समान अवस्था नहीं होती। कोई जीव अपने जीवनमें तमोगुणका दास हो तामस संस्कार लेकर पशुयोनिमें जन्म ग्रहण करता है; कोई भोग, विलासादिको ही पुरुषार्थ मान

राजससंस्कार ले कर अपने योग्य स्थान ढूंढ लेता है; और कोई सात्विक संस्कारोंके साथ योगियोंके यहां उत्पन्न हो कर अपनी जीवनयात्रा सफल करता है। इन बातोंपर जीवका पूरा अधिकार है। जो जैसा चाहेगा वैसा ही पावेगा।

सब लोग जीवकी इस जीवद्दशाका रहस्य नहीं जानते क्योंकि कभी सपनेमें भी वे अपने जीवनको अमूल्य नहीं समझते। उन्हें अपनी पहिचान नहीं होती। परंतु योगियोंको यह रहस्य मालूम हो जाता है; क्योंकि वे केवल शास्त्रोंकी चर्चा नहीं करते किन्तु अपने जीवनको वैसा बना देते हैं। उन्हें सर्वत्र परमात्मा दिखायी देता है। सूर्य, चंद्र और अग्निके प्रकाशको वे प्रत्यक्ष परमात्माका प्रकाश जानते हैं। उनके लिये चंद्ररूपसे वनस्पतियोंपर सुधा बरसानेवाला और प्रत्येक देहमें जठराग्निके रूपसे अन्नका पाचन करनेवाला वही परमात्मा है। उनपर ज़रा ज़रासी बातोंका प्रभाव नहीं पड़ने पाता। उनपर संकुचित संसारके संस्कार नहीं जमने पाते और वे सर्वज्ञ और सर्वमय सर्वात्माकी ही उपासनामें लगे रहते है। मोक्ष नाम उन्हींके जीवनका है।

देव और असुर।

ऊपर जिस मोक्षका उल्लेख है उसके अधिकारी सात्विक लोग अथवा देव ही होते हैं इसलिये ऐसे पुरुषोंके लक्षणोंकी तालिका दी जाती है:—दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, प्रियभाषण, अक्रोध, अनासक्ति, शान्ति, दोष दृष्टिका अभाव, भूतदया, प्रेम, लोलुपताका अभाव, आचार विचारमें मृदुता, मधुरता, जनमनलज्जा, स्थिरता, तेजस्विता, सहिष्णुता, अन्तर्बाह्य पवित्रता, द्वेषाभाव, अहंकारशून्यता।

इनमें एक भी लक्षण ऐसा नहीं है जो बिना ब्रह्मचर्यके सधे। इसलिये सात्विक पुरुषोंका प्रधान लक्षण ब्रह्मचर्य है।

असुरोंके स्वभाव, आचार और विचार सात्विक वृतिके विपरीत होते हैं। इन्हें ज्ञान अथवा सुखसमृद्धि नहीं प्राप्त होती। इन्हें विश्व और विश्वात्माका पता नहीं, इसलिये क्या कर्तव्य है और क्या करनेसे पाप होता है इसका विचार भी इनकी मोहान्ध बुद्धिमें नहीं आता। शरीर, मन और बुद्धिको ये पवित्र और स्वच्छ रखना नहीं जानते। इन्हे शिष्टाचार नहीं मालूम। झूठ बोलना तो इनके घरकी खेती है। और तो क्या ईश्वरतकको ये नहीं मानते और कहते हैं कि स्त्री पुरुषके संयोगसे सृष्टि उत्पन्न होती है–उसमें परमेश्वरका क्या लगता है?–परमेश्वर कोई चीज ही नहीं है!

महानास्तिक चार्वाकका कथन है:–"हमारा शरीर ही हमारी आत्मा है। जीव शरीरकी एक रासायनिक उपाधि मात्र है। मृत्यु ही मोक्ष है। वेदोक्त कर्म भंड और निशाचरोंने लोगोंको फंसानेके लिये कल्पित किये हैं। क्योंकि उनके फल दृष्टिगोचर नहीं। आंखोंसे जो दिखायी दे अथवा इंद्रियगोचर हो वही सत्य है–प्रत्यक्ष प्रमाण ही केवल प्रमाण है। तात्पर्य, देह ही आत्मा और देहोपभोग–विषयभोग ही परं पुरुषार्थ है।" चार्वाकका एक ही वेद है–'अनुभव'। भारतवर्षमें, समाजमें महानर्थ उत्पन्न करने वालोंको भी विचारस्वातंत्र्य और उपदेशस्वातंत्र्य था!

उन्होंने दुनियाको दुनियादारीके लिये समझ लिया है। इनसे समाजकी बड़ी हानि होती है। ये अपना स्वार्थ बनाने और दूसरोंका माल हड़पनेमें बड़े उस्ताद हैं। इनका सारा पुरुषार्थ 'काम' है। परन्तु काम, क्रोध और लोभ नरकका रास्ता दिखानेवाले मार्गदर्शक हैं। इसलिये जिन्हें नरकसे बचना है

उनका कर्तव्य है कि काम क्रोधादिसे बचें और परमात्मा, जीवात्मा और संसार संबंधी जो सत्य सिध्दान्त हैं उनके अनुकूल अपने जीवनको बना कर्तव्य पालन करें।

श्रद्धा।

श्रद्धाका अर्थ है दृढ़ विश्वास। किसी देव देवीपर अथवा उन्नतिके किसी मार्गपर जो दृढ़ विश्वास होता है उसीका नाम श्रद्धा है। यह श्रद्धा जिसका जैसा स्वभाव हो वैसी ही होती है। सात्विक मनुष्योंकी श्रद्धा सात्विक महापुरुषोंपर और ब्रह्मचर्यादि उपायोंपर ही होती है। उसी प्रकार राजसी लोग यक्ष किन्नरोंको मानते हैं और परोपकारादि मार्गको ही उचित मार्ग समझते हैं। वैसे ही तामसी लोग भूतप्रेतादिमें विश्वास रख कर जादूटोना जैसे उपायोंपर ही श्रद्धा करते हैं। मनुष्यकी जैसी इच्छा होती है वैसा उसका स्वभाव बनता है और जैसा जिसका स्वभाव होता है वैसी ही उसकी श्रद्धा होती है। इसीलिये श्रद्धाके तीन भेद किये गये हैं:—सात्विकी, राजसी और तामसी।

परन्तु एक बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि इन बातोंपर मनुष्यका पूरा अधिकार है। मनुष्यकी इच्छापर ही अच्छी अथवा बुरी श्रद्धा निर्भर करती है। इसलिये जिन लोगोंको सात्विक श्रद्धासे इहपरलोकमें सुख लाभ करनेकी इच्छा हो वे सात्विक नियमोंका पालन करें। ये नियम खाने पीने आदि सभी नित्य और आवश्यक कार्योंके संबंधमें हैं।

आहार।

आहार या भोजनका मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। तीते, खट्टे और तलहे पदार्थ खानेवाले लोग प्रायः रोगी, तेज़मिज़ाज़

और दुर्बल होते हैं। इसलिये मनुष्यको ऐसा भोजन करना चाहिये जिससे मन प्रसन्न रहे, बुद्धि तीव्र हो और शरीरमें बल आवे। चाय, काफी अथवा मदिरा सात्विक खानपान नहीं है। उसी प्रकार तरह तरहकी मिठाइयां खाना भी शरीर और मन दोनोंके लिये हानिकर है। सात्विक अन्न नैसर्गिक होता है। नैसर्गिक अन्न अथवा भोजनसे उन वस्तुओंका मतलब है जो मनुष्यकी बनायी न हों—परमात्मा द्वारा ही वसुधामें उत्पन्न हुई हों। अर्थात् मांस, मदिरा, मिठाई, अचार आदि पदार्थ नैसर्गिक नहीं है। गेहूं, चावल, बाजरा, चना, तरकारियां और फल, मेवे आदि नैसर्गिक पदार्थ हैं। इन्हींका आहार सर्वोत्तम है। इन सब वस्तुओंको नैसर्गिक अवस्थामें ही खाना सर्वोत्तम है। ऐसे आहार करनेवाले जंगली मनुष्यों और जानवरोंको देखिये। वे कैसे निरोग और बलिष्ठ होते हैं। परन्तु इस समय ऋषिमुनियोंकी सन्तान—कन्दमूल भक्षण करनेवालोंकी सन्तति निसर्गसे बहुत दूर चली गयी है। इसलिये एकाएक सब प्रकार अवस्थाका पलट जाना असंभव और हानिकर भी है। इसे केवल आदर्शस्वरूप सामने रख कर लोग यदि यथासंभव और यथाभ्यास नैसर्गिक अन्न और फल खाया करें तो कितना धन, कितनी शरीर संपत्ति और कितना समय और अमूल्य कार्य्योंके लिये बच जायगा !

यज्ञ ।

यज्ञ नाम है स्वार्थत्यागका। अपनी प्रतिष्ठाके लिये अथवा लाचार हो कर जो स्वार्थत्याग किया जाता है वह सात्त्विक स्वार्थत्याग नहीं है। सात्त्विक यज्ञ उस स्वार्थत्यागका नाम है जो दूसरोंके हितार्थ निःस्वार्थ बुद्धिसे ही किया जाय। ऐसे कर्म

करनेका अभ्यास डालना चाहिये। पहिले अपने संबंधियोंके साथ ही ऐसा व्यवहार करनेसे फिर और लोगोंपर भी उपकार करनेकी बुद्धि होती है और क्रमशः यह अभ्यास बहुत बढ़ जाता है। इस स्वार्थत्यागसे मनुष्यकी सात्विकी श्रद्धा बनती है और ऐसी श्रद्धा बननेसे मृत्यु समयमें सदिच्छा उत्पन्न होती है और अगले जन्ममें उन्नतिका मार्ग साफ होता है।

तप और दान।

तप तीन प्रकारके है; कायिक, वाचिक और मानसिक। ब्रह्मचर्यसे तथा नित्यप्रति जल, वायु तथा सूर्य स्नानसे शरीरको पवित्र रखकर उसका उपयोग दुष्टोंसे निर्बलोको बचानेमें और शिष्टोंके पालनमें करना सात्विक शारीर तप है। मित भाषण करना, कोई ऐसी बात न कहना जिससे किसीका दिल दुखे, सात्विक प्रकारका वाचिक तप है। और मनमें सदा शुद्ध विचारको स्थान देना, अभिमान और इंद्रियवशताको हटाना, और प्रसन्न रहना सात्विक प्रकारका मानसिक तप है। मनुष्य यदि इस तपसे अपने शरीर, मन और बुद्धिकी उन्नति करे तो विना बात किये ही वह दूसरोंपर अपना प्रभाव डाल सकता है। स्वयं प्रसन्न रहनेसे बढ़कर दूसरोंको प्रसन्न करनेका और कोई उपाय नहीं है। दान भी सात्विक, राजस और तामस होता है। सात्विक दान वह धन अथवा विद्यादान है जो देश, काल और पात्रका विचार करके दिया जाय। जिसके पेटमें भूखकी ज्वाला धधक रही है उसके मुहका कौर छीन लेना और लखपतियोंकी दावत करना अथवा परान्नपुष्ट मनुष्योंको भोजन देना महाघृणित दान है। देश, काल, और पात्रका विचार कर दान देनेकी रीति भारतवर्षसे मानो उठ ही गयी है। आतिथि-सत्कार

तो यहां नहीं होता; पर नीचवृत्ति अहंमन्य धुराधारियोंको संतुष्ट करनेमें कोई बात उठा नहीं रखी जाती। दान दिया जाता है उन लोगों-को जो कोई काम नहीं करते; दिनरात दूसरोंकी निन्दा और शिश्नो-दर सेवा ही किया करते हैं। जो लोग खूनका पसीना बहाकर गरमीकी झल्लाती धूपमें भारतवर्षके अमीर और गरीबके लिये-युरोप और अमेरिकाके लिये भी अन्न पैदा करनेमें अपनी देह-को घिस डालते है उन्हें कोई कानी आंखसे भी नहीं देखता! हां देखते हैं उन लोगोंको जो दूसरोंका माल हड़पते हैं। अभी जरूरत है उन कंगाल किसानोंको विद्या और धनदान देनेकी जो आपके लिये अन्न पैदा करते हैं जिस अन्नके बिना आपके भूखों मरनेकी नौबत आ सकती है। दीनोंको दान देना ही हमारा धर्म है।

* * *

सारांश ।

संसारमें जितने पदार्थ उत्पन्न होते है वे सब कोई न कोई काम करते हैं। निकम्मा पदार्थ यहां रह नहीं सकता। मनुष्य भी कर्म करनेके लिये उत्पन्न होता है। जो मनुष्य निकम्मा बैठा रहेगा वह सड़ जायगा। परन्तु कर्म भी समझकर करना चाहिये; नहीं तो उस 'उद्योगी' मनुष्यकीसी अवस्था होगी जिसने शास्त्रोंके सिद्धान्त न समझकर शब्दजालमें ही फंसकर अपनी स्त्रीके केश काट डालनेको ही 'कर्म' मान लिया। ऐसे उत्पाती लोग संसारमें कम नहीं है। कर्म करना स्वभावका धर्म है, परन्तु कर्मकी दिशा न मालूम होनेसे लोग ऐसे कर्म करते है जिनसे उनका और उनके समाजका रूपरंग बिगड़ जाता है। इसालिये पहिले यह समझ लेना चाहिये कि कौन कर्म करना चाहिये।

मनुष्य कहांसे आता है और कहां जाता है? इस संसारमें उसका क्या काम है?

अद्वैतसिद्धान्त है कि प्रत्येक जीव परमात्मा ही है। परंतु वह अपना परमात्मरूप तबतक नहीं देख सकता जबतक वह परमात्माकी अनन्य भक्ति नहीं करता अथवा परमात्माके अनुकरणसे ज्ञानमय नहीं हो जाता। परंतु यदि यह सत्य है कि जीव परमात्मा है तो उसका कर्म भी स्पष्ट है। परमात्माका क्या काम है? कौन नहीं जानता कि परमात्मा ही इस सृष्टिको धारण करता है—वही इसका आधार है; वही अन्यायको पैरों तले कुचलकर न्यायका साम्राज्य फैलाता है। यही कार्य जीवका है; परन्तु जीवका ज्ञान जितना फैला होगा उतना ही कल्याण उससे बन पड़ेगा। तात्पर्य प्रत्येक जीवका धर्म है कि वह लोककल्याण और संसारकी सुस्थितिके लिये सत्कर्मका प्रचार करे। श्रीमत् शंकराचार्यके भाष्योपोद्घातमें यही लिखा है:—जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यः स धर्मः... .." यह धर्मकी व्याख्या है।

इसी धर्मके पालनसे—इसी ईश्वरी कर्मके अनुकरणसे जीव जीवदशाके महासागरको पार कर स्वतंत्र हो जाता है। इस कर्मके दो भेद हैं: एक सामान्य और दूसरा विशेष अथवा श्रुतिस्मृतिद्वारा प्रतिपादित नित्य करनेके कर्म और संसारकी विशेष परिस्थितिके अनुकूल लोकोपकारी कर्म। इनमेंसे पहिले प्रकारके कर्म तो सन्यासीतक नहीं छोड़ सकते फिर समान्य मनुष्योंकी बात ही क्या है। क्योंकि यदि नित्यके कर्म छोड़ दिये जायं तो धर्मका नामो निशान भी समाजसे मिट जायगा। ये कर्म केवल कर्म समझ कर ही किये जाते हैं—इनसे फलप्राप्ति नहीं। दूसरे प्रकारके कर्म समाजका दुःख दूर करनेके लिये विशेष परिस्थिति-

में विशेष प्रकारसे किये जाते है । जो लोग निःस्वार्थभावसे इस प्रकार समाजसेवा करते हैं उनके भी कर्मबंधन सन्यासी-के समान टूट जाते है और वे त्यागी कहाते है। कर्म जो दुःख-मूलक कहा गया है वह इनके दुःखका कारण नहीं हो सकता क्योंकि ये फलकी आशासे काम नहीं करते। कर्मफल उन्हीं-को भोगने पड़ते हैं जो त्याग करना नहीं जानते । ऐसे लोग अपने कर्मोंके अनुसार इष्ट, अनिष्ट और मिश्र फल भोगते है।

जीवोंके कर्म भिन्न भिन्न प्रकारके क्यों हो जाते हैं? यह समझनेके लिये कर्मका कारण जानना चाहिये। मनुष्य अपने शरीर, मन अथवा बुद्धिसे जितने काम करता है उन कामोंके होनेके लिये इतनी वस्तुएं आवश्यक हैं (१) शरीर, (२) जीव, (३) बारह इंद्रियां (५ कर्मेंद्रिय, ५ ज्ञानेंद्रिय, मन और बुद्धि), (४) प्राणापानादि वायुओंकी चेष्टा, और (५) दैव। सबके शरीर, वासनाएं, बुद्धि, इंद्रियां, वायुमंडल और दैव समान नहीं हैं; इसलिये सबके कर्म भी समान नहीं हैं।

दैव।

दैव क्या है ? ब्रह्मसत्तासे संसारमें जो उलटफेर होते हैं जैसे भूडोल, ज्वालामुखीका उभड़ना, समुद्रमें जहाजका डूबना अथवा चट्टानसे टकराना, पृथ्वीका अंश जलमय हो जाना तथा जलका टापू बन जाना आदि जो उलटफेर संसारमें हो रहे हैं उन्हींका नाम है दैव इस दैवका हमारे कर्मसे बहुत निकट संबंध है। जिस मनुष्यको इन उलटफेरोंका ज्ञान हो जाता है वह विजयी और जिसे नहीं होता वह निराश होता है । कभी कभी ऐसा भी अवसर आता है जब भूडोलके कारण जमीनकी दरारमें शहरके शहर मिल जाते हैं परंतु उनमें एकाध बालक बेदाग

बच जाता है। यह बालकके कर्मका फल है। इसलिये दैव कोई ऐसी वस्तु नहीं जो अन्यायसे जीवकी उन्नतिमें बाधा डाले। इस दैवको चाहे जो मनुष्य सत्कर्म द्वारा अपने अनुकूल बना ले सकता है। जो लोग दैवपर भरोसा रखकर उसके अधीन हो जाते हैं वे कभी उन्नति नहीं कर सकते। मनुष्यको जानना चाहिये कि वही दैवका स्वामी है यदि वह उसे ठीक ठीक समझे। प्रत्येक मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। परन्तु उसे अपनी अवस्था, योग्यता और अधिकारको जानकर उसके अनुकूल कर्म करना चाहिये। मनुष्यके कई भेद हैं; उनके भिन्न भिन्न अधिकार हैं जिनका विषय यथाक्रम आगे लिखा जाता है।

मनुष्यके तीन भेद हैं, सात्विक, राजसी और तामसी। तीन प्रकारके मनुष्य तीन प्रकारके कार्य करते हैं। इन कार्योंके करनेवाली बुद्धि और धीरता भी तीन प्रकारकी होती है। और फल भी तीन प्रकारके होते हैं। जो मनुष्य सात्विक बुद्धिसे सात्विक धीरताके साथ आत्मसंयमके कष्टोंको सहता हुआ परमात्माकी उपासना करता है और लोकसेवाको धर्म समझता है वह उत्तम या सात्विक सुख पाता है। सात्विक सुख आरंभमें बड़ा कडुआ मालूम होता है पर जैसे कडुई दवा रोगीके रोगको भगाकर उसे खड़ा कर देती है वैसे ही सात्विक बलको लुभानेवाले दुष्ट लोभ मोहादि शत्रुओंसे युद्ध करनेवाला कर्मवीर जयी हो कर अन्तमें सुखी होता है। राजसी वृत्तिके लोग स्वार्थमें चूर रहते हैं और अपने ही विलास-विहारके अर्कमें धीरे धीरे घुल जाते हैं। तामसी वृत्तिवाले सदा ही दुःखी रहते हैं। इस समय भारतवर्षके लोगोंकी यही अवस्था है। चीनसे चंडूखाना उठकर अब यहां अपनी जड़ जमा रहा है। बलीके सामने गर्दन

झुकाना, निर्बलोंकी छातीपर सवार होना, बिना परिश्रम किये सुखकी इच्छा करना, रात दिन नशेमें चूर रहना—ये सब तामसी वृत्तिके लक्षण है और बहुत दुःख होता है कि हम भारत-वासियोंका यही हाल है! जिस देशमें स्वार्थत्यागी सात्विक ब्राह्मणोंकी एक जाति बन चुकी थी और जिस देशकी रक्षाके लिये स्वाभिमानी कर्मवीरोंने वंशपरंपरा देशसेवा करनेका व्रत धारण कर लिया था उस देशमें अब तमोगुणने सत्व और रजको दबाकर अपना प्रभुत्व जमाया है। इस समय आवश्यकता है कि इस अंधकार को दूर करनेके लिये स्वार्थ-त्यागी युवा ब्राह्मण और क्षत्रिय आगे बढ़ें और गीताधर्मके प्रकाशसे उस अंधकारको दूर करें। तामसी वृत्तिवाले मनुष्य-पर ईश्वरी अनुग्रह हो तो वह एकाएक सात्विक बन जा सकता है; परंतु प्राय. तामसी वृत्तिको हटानेके लिये राजसी मोहिनीसे काम लेना पड़ता है और इसलिये भारतवासियोंका तमोगुण दूर करनेके लिये उन्हें अन्यान्य 'सभ्य' देशोंकी राजकीय तथा सांपत्तिक उन्नति दिखलाना और वैसे उद्योग करनेकी शिक्षा देना परं मंगलकर होगा। परंतु यह काम करनेवाले लोग स्वयं सात्विक वृत्तिवाले हों; क्योंकि ईश्वरकी प्रधानताके आश्रयमें ही सब उन्नति हो सकती है।

वर्णव्यवस्था।

'वर्णानांब्राह्मणो गुरुः।' क्यों सब वर्णोंका गुरु अथवा सब वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण ही माना गया? इसका केवल यही कारण है कि ब्राह्मणके गुण और कर्म ही ऐसे हैं। ब्राह्मणके घर जन्म लेनेसे ही वह कुमार ब्राह्मण कहलाता है परन्तु ठीक वैसे ही जैसे राजाके घर जन्म लेनेसे राजकुमारकी पदवी मिलती है।

परंतु अब वह समय आ गया है जब अपना कार्य न करनेवाला विलासी राजा तख्तसे उतार दिया जाता है और वह राजा राजा नहीं होता। उसी प्रकार ब्राह्मणकुमार भी यदि अपना कर्त्तव्य पालन न करे तो वर्णगुरुकी गद्दीसे वह उठा दिया जायगा। और ऐसा ही होना ठीक है। इसलिये जिन ब्राह्मणकुमारोंमें ऋषिमुनियोंके वीर्यकी तेजस्विता हो वे संभल जायं और शरीर, मन, तथा बुद्धिको पवित्र रखकर तीनों वर्णोंके हितार्थ आत्मत्याग करनेके लिये आगे बढ़ें। सारे शास्त्रोंकी पोथियोंको उलट पलट कर देख लेनेसे अथवा मस्तकको भस्म या तिलक द्वारा सिंगारनेसे ही ब्राह्मणत्व नहीं आ जाता। ब्राह्मण वही है जो अध्ययन अध्यापन और शुद्ध आचरणसे लोकसेवा करे। उसी प्रकार संसारकी सात्विक उन्नतिमें बाधा डालनेवालोंको अपने प्रतापसे दबा देना, नीच निशाचरोंको अपने तेजसे भस्म करना, संग्राम करते समय शत्रुके दांत खट्टे कर छोड़ना, दीनोंपर दया करना, बलीनिर्बलोंका न्यायपूर्वक शासन करनेकी सामर्थ्य रखना, आदि क्षात्रगुण जिस नरवीरमें हों वही सच्चे पुरुषोंकी दृष्टिमें क्षत्रिय समझा जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्षत्रियके कार्य करनेके लिये ही क्षत्रिय संस्कारोंसे दृढ़ होकर जीवात्मा क्षत्रियके घर जन्म लेता है। परंतु जब वह अपना कार्य नहीं करता तब उसमें क्षत्रियत्व भी नहीं रहता। जैसे वैद्यके बेटेको कोई वैद्य नहीं कहता वैसे ही ऐसे क्षत्रियको क्षत्रिय कहना अपनी मूर्खता दिखलाना है। सब वर्णोंका यही हाल है। जो वैश्य देशकालका विचार छोड़ देता है-ब्राह्मण क्षत्रियके पवित्र आदर्शको नहीं मानता और केवल शिश्नोदरपरायण हो धर्म विरुद्ध व्यवसाय करता है उसका दर्जा बहुत नीचा है। वैसे ही वह शूद्र जो हिन्दू धर्ममें प्रवेश कर हिन्दू धर्मका आदर्श

न जान अपनी शक्ति तथा अधिकारको न पहिचान सेवाधर्मका दुरुपयोग करता है उसका पद भी हिन्दु चातुर्वर्ण्यसे बाहर है। जब चारों वर्ण अपना अपना काम ठीक तरहसे करते हैं तब चारोंका सम्मान बरावर है; परंतु जो अपना कार्य नहीं करता वह मनुष्यत्वसे ही गिर जाता है। न ब्राह्मण क्षत्रियसे श्रेष्ठ है और न वैश्य शूद्रसे। जो शूद्र पवित्र भावसे अपना कर्तव्य करता है वह निकम्मे जन्मसिद्ध ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है। श्रेष्ठता कर्तव्य-संपादनपर निर्भर करती है-जन्मपर नहीं। पर हां, जहां जन्म कर्मसे चरितार्थ हो वहां सिद्धि वहुत जल्द प्राप्त होती है। यही

ब्रह्मप्राप्तिका उपाय

है। यही ईश्वरकी आराधना है। कर्तव्यपालनकी सामर्थ्य निरोग मन और निरोग शरीरमें ही हो सकती है। जो मनुष्य कर्तव्यपालन नहीं करता, निश्चय जानिये कि, वह किसी भयंकर रोगसे पीड़ित है। जिस मनुष्यकी नीयत खराब है, कार्रवाई नीचतासे पूर्ण है-स्मरण रखिये उसे दुःसाध्य क्षयरोग हो गया है। ईश्वर ही उन्हें बचा सकता है। निरोग मन और निरोग शरीरमें बदनीयत आने नहीं पाती। निरोग होनेकी दवा एक ही है—ब्रह्मचर्य। आत्मिक बलसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा कर जो जीव बुद्धिको साफ रखता है वह भोगी जीवोंको न दिखाई देने वाली इसी सृष्टिसे सुखसामग्री इकट्ठी करता है और प्रकृतिके नियमोंको जानता हुआ नियत समयपर नियत कार्य करता है। वह शरीर, मन, बुद्धि और सारी सृष्टिसे लाभ उठाता है-सृष्टि उसकी सेवाके लिये तत्पर रहती है। वह अद्भुत शक्ति संपन्न होता और संसारकी उन्नतिके लिये विचित्र लीला दिखाकर अन्तर्धान हो जाता है।

संसारकी और एक एक व्यक्तिकी उन्नतिका यह आदर्श गीताने हमारे सामने रख दिया है। बड़ी गंभीरतासे जबतक मनुष्य अपनी दशापर विचार नहीं करता तबतक उसे यह आदर्श गीताकारका निरा स्वप्न ही मालूम होगा। परतु मनुष्य और पशुमें अन्तर है; पशुमें विचारशक्ति नहीं-मनुष्यमें है। जबतक मनुष्य इसका उपयोग नहीं करता, कहना चाहिये कि, तबतक वह मानवी पशु है। ऐसे मानवी पशु पशुवृत्ति धारण कर पाश्विक उन्नतिको ही सारसर्वस्व मान लेते है। परंतु मनुष्य विचारशक्तिसे काम लेता है और जानता है कि आत्माने जो यह शरीर धारण किया है उसका कोई विशेष उद्देश्य है। परमात्मा और आत्मामें यदि कोई भेद नहीं तो संसारमें सत्यका साम्राज्य स्थिर रखनेकी यथाशक्ति चेष्टा करना मनुष्यका धर्म है। संसारकी उन्नतिका यही आदर्श है कि संसारमें सत्यकी सत्ता और असत्यका नाश हो—न्यायका नेतृत्व और अन्यायकी अधोगति हो-परिश्रमका पारितोषिक और विलासिताका विनाश हो। प्रत्येक व्यक्तिकी अत्यंत उन्नति भी यही है कि वह सत्यस्वरूप हो। इस आदर्शको गीताने सामने रखा है और इस आदर्शतक-धीरे धीरे पहुंच जानेका मार्ग भी गीताने दिखा दिया है। जिन लोगोंकी बुद्धि इस आदर्शतक न पहुंच सकती हो अथवा जिन्हें यह मार्ग सुखकर न मालूम होता हो वे इस योगको तबतक नहीं जान सकते जबतक उनका रोग दूर न हो। गीता उनके लिये नहीं है। जो लोग ईश्वरकी न्यायसत्ता और अपने पुरुषार्थपर विश्वास रखनेमें समर्थ हो गये है उन्हींके लिये गीता है। वे गीताके श्रवण, मनन और आचरणसे संसारका सुख भी लूट सकते हैं और इस प्रकृतिकी अधीनतासे भी छूट सकते हैं।

स्वतंत्रता, समता और एकता—यही गीताका आदर्श है। 'स्वतंत्र' यह कितना मधुर शब्द है! स्वतंत्रता किसको प्यारी नहीं है! पर उसके लिये कितने मनुष्य यत्न करते है? सबसे पहिले मनुष्यमें मनुष्यत्व आना चाहिये। मनुष्य जब अपने आपको पहिचान लेता है तभी वह उद्योगी होता है। इस नाशवान् शरीरके पीछे पड़कर असाध्य रोगोंके कारागारमें सड़नेकी क्यों नौबत आयी? सिर्फ इसी लिये कि हमने अपने आपको नहीं पहिचाना। मनुष्य जितना ही आत्मज्ञान रखेगा उतना ही वह प्रकृतिसे-क्षणिक सुखसे-कल्पनामय कष्टों-से-स्वतंत्र होगा। स्वतंत्र हो लेना विचार और आचारमें-उन्नतिका पहिला उपाय है। स्वतंत्रता समताकी माता है। स्वतंत्र मनुष्य जितना समझदार होता है उतना गुलाम नहीं होता। स्वतंत्रता दूसरोंके साथ समताका व्यवहार करना सिख-लाती है। गुलामी गुलाम बनाना सिखाती है। जो जैसा होता है वैसा ही वह दूसरेको बनाया चाहता है। स्वतंत्रतासे समता और समतासे एकता उत्पन्न होती है। परमात्मा जीवात्माकी एकता, ब्राह्मणादि वर्णोंकी एकता, कौटुम्बिक एकता समतासे ही होती है। पहिले अपने आपको पहिचानना, असत्यको छोड़ सत्यको ग्रहण करना; समदृष्टिसे न्यायान्यायको देख निःसंग होकर लोकोपकारी कार्य करना और अन्तमें ब्रह्मप्राप्ति करना, संक्षेपमें, गीताकारका यही आदर्श है। इस आदर्शका जितना प्रचार होगा उतना ही सुख, समता और एकता फैलेगी इसमें कोई सन्देह नहीं।

ॐ तत्सत्ब्रह्मार्पणमस्तु।

ग्रन्थ-प्रकाशक समितिकी अन्यान्य पुस्तकें।

(१) हैम्लेट।

हिन्दी भाषामें ही नहीं, संसारकी समस्त भाषाओंमें इसकी जोड़ का दूसरा नाटक नहीं है। इस नाटककी आजतक पचास लाख से अधिक प्रतियां बिक चुकी हैं। शेक्सपियरके अत्यन्त कठिन और उत्तम नाटकोंमें से यह एक है। यह नाटक बी०ए० की डिग्री प्राप्त करने वालोंको पढ़ाया जाता है। इस नाटकके पढ़नेसे हमारी ही नहीं किन्तु अंग्रेज़ीके बड़े बड़े विद्वानोंकी उक्त महाकविपर अत्यन्त श्रद्धा हो गई है। वे कहते हैं कि जब उक्त महाकवि अपने और और नाटकोंमें संसारकी समस्त बातें लिख चुका तब उसने नई सृष्टिकी कल्पना कर इस नाटककी रचना की है। ऐसे उत्तम, विचित्र, उपदेशपूर्ण तथा मनोरंजक नाटक का सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद हो गया है। निर्णयसागरके सुन्दर टाइपोंमें और मोटे काग़ज़पर यह नाटक छपवाया गया है। बाईण्डिग भी खूब मज़बूत और सुन्दर है। कपड़ेकी जिल्द १॥) सादी जिल्द १।)

(२) महात्मा टालस्टायके तीन लेख।

(१) उद्योग और आलस्य। (२) शिक्षा सम्बन्धी पत्र।
(३) लोग नशा क्यों करते हैं?

रूसके सुप्रसिद्ध महात्मा, सर्वसंगपरित्यागी काउन्ट टाल-स्टाय के क्रान्तिकर लेखोंमेंसे चुने हुए ये तीन लेख हैं। इन लेखों

के पढ़नेसे एक नवीन सृष्टि सामने आ जाती है। यदि मनुष्य अपना जीवन सुधारना चाहता हो तो उसे इन लेखोंको अवश्य पढ़ना चाहिये पढ़कर उनकी बातोंका प्रचार करना चाहिये। मूल्य ।-)

(३) महाराष्ट्र-रहस्य ।

अंग्रेजी राज्यसे पहले जिस महान् पराक्रमी, उदार जातिने भारतवर्षमें ओरसे छोरतक हिन्दू साम्राज्य फैला दिया था उसी महाराष्ट्र जातिके उदयका रहस्य इस पुस्तकमें लिखा गया है। पुस्तक पढ़कर शिवाजी रामदास आदि महापुरुषोंके जीवनकी कुछ रहस्यमय घटनाएं भी मालूम होंगी। मूल्य ≡)

सुभद्राहरण नाटक ।

(श्री भारतेन्दु नाटक मण्डली काशी द्वारा अभिनीत)

यह शृंगाररसपूर्ण नाटक सच्चे प्रेमका एक उत्कृष्ट दृष्टान्त है। एक वार हाथमें लेनेसे पूरा पढ़े विना रखनेकी इच्छा नहीं होती। मू० ।≈)

पता:—

मन्त्री—ग्रन्थ प्रकाशक समिति,

बीबीहटिया, काशी। (Benares City)